

मीराकांत के साहित्य संसार में 'स्त्री'

कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय
की
पीएच.डी. उपाधि
के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबंध की संक्षिप्त रूपरेखा



निर्देशक
गणेश. बी. पवार

शोधार्थी
वसुन्धरा शर्मा

हिन्दी विभाग
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय
2020

घोषणा पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि “मीराकांत के साहित्य संसार में स्त्री” नामक शोध मेरे निर्देशन में शोधार्थी वसुंधरा शर्मा के द्वारा किया गया है। शोध प्रबंध शोध के मानकों के अनुरूप है और पीएच.डी. उपाधि के योग्य है।

प्रो. गणेश बी. पवार
(निर्देशक)

वसुन्धरा शर्मा
(शोधार्थी)

विषय सूची

1. मीरा कांत के रचना संसार में स्त्री
 - 1.1 रचनात्मक व्यक्तित्व
 - 1.2 रचनाएँ
 - (1) नाटक
 - (2) उपन्यास
 - (3) कहानी— संग्रह
 - (4) लम्बी कविताएँ
 - (5) बाल— साहित्य
 - (6) शोध
 - (7) अनूदित साहित्य
 - (8) अनुवाद
2. भारत में 'स्त्री जागरण एवं आन्दोलन' विभिन्न पड़ावों का संक्षिप्त सर्वेक्षण 'स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री मुक्ति'
 - 2.1 भारतीय दृष्टि : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 2.2 नवजागरण काल में कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष
 - (क) आर्य समाज आंदोलन
 - (ख) प्रार्थना समाज आंदोलन
 - (ग) देशी—विदेशी महिलाओं का योगदान
 - (घ) अन्य सुधारकों का प्रयत्न
 - 2.3 नारी संस्थाओं और पत्रिकाओं का योगदान
 - (क) गाँधी जी द्वारा महिलाओं का आह्वान
 - 2.4 पश्चिमी दृष्टि
 - 2.5 नारीवाद
 - (क) उदारवादी नारीवाद
 - (ख) मार्क्सवादी नारीवाद
 - (ग) रेडिकल नारीवाद
3. स्त्री—प्रश्न और हिन्दी के प्रमुख नाटक
 - 3.1 भारतेन्दु के नाटक
 - 3.2 प्रसाद युग के नाटक

- 3.3 प्रसादोत्तर नाटक
- 3.4 समकालीन नाटक
- 4. मीरा कांत के साहित्य संसार में स्त्री
 - 4.1 नाट्य साहित्य में स्त्री
 - (1) ईहामृग
 - (2) नेपथ्य राग
 - (3) भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर
 - (4) कंधे पर क्यों बैठा शाप
 - (5) मेघ-प्रश्न
 - (6) काली बर्फ
 - (7) बहती व्यथा सतीसर
 - (8) हुमा को उड़ जान दो
 - (9) अंत हाजिर हो
 - (10) उत्तर-प्रश्न
 - (11) तीन अकेले साथ-साथ (एकल-नाट्य)
 - (12) पुनरवि दिव्या, (नाट्य-रूपांतरण)
 - 4.2 नाटकेत्तर साहित्य में स्त्री
 - (1) ततः किम्
 - (2) उर्फ हिटलर
 - (3) एक कोई था कही नहीं-सा कहानी संग्रह : परिचय
 - (1) हाइफन
 - (2) कागजी बुर्ज
 - (3) गली दुल्हन वाली
 - (4) प्रेम संबंधों की कहानियाँ
- 5. स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखन में बदलते परिदृश्य बढ़ते कदम
 - 5.1 भारतीय नारी समाज के विविध वर्ग
 - (1) निम्नवर्गीय महिलाएँ
 - (2) मध्यवर्गीय महिलाएँ
 - (3) उच्च अभिजात्यवर्गीय महिलाएँ

5.2 समकालीन नारी समाज में बदलते संबंध संदर्भ

- (1) परिवार
- (2) विवाह और तलाक
- (3) मीडिया और विज्ञान
- (4) राजनीति चेतना

उपसंहार

प्रथम अध्याय

मीराकांत के रचना संसार में स्त्री

1.1 रचनात्मक व्यक्तित्व

हिंदी साहित्य अनेक प्रतिभाशाली साहित्यकारों से भरा पड़ा है। जहाँ साहित्यकारों ने विभिन्न प्रकार की समस्याओं और कुरुतियों पर प्रहार किया है, तथा समाज को इन बुराइयों से निकालने का भरसक प्रयास किया है। और इसमें सफल भी रहे हैं। इन समस्याओं में कई समस्याएं सामाजिक कुरुतियाँ और अंधविश्वास था, जिसका सबसे ज्यादा शिकार महिला समाज था। साहित्य जगत के कई साहित्यकारों ने महिला सुरक्षा और महिलाओं को शोषण से बचाने हेतु कई रचनाये की। इन्हीं साहित्यकारों में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं मीराकांत जी। जिन्होंने स्त्री समाज को सशक्त बनाने और जागरूक करने हेतु अनेक प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थ और रचनाये लिखी। हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखने से पता चलता है, कि महिला रचनाकारों ने उपन्यास, कहानी व अन्य विधाओं में स्त्री-विमर्शों की बारीकियों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया किंतु नाट्य जगत अभी महिला मौलिक नाटककारों की संख्या शैशवस्था में है, मीराकांत ने न केवल अपने नाटकों में अपितु अपने संपूर्ण साहित्य में 'स्त्री-विमर्श' की समस्याओं को समाज के समक्ष रखा है।

यही कारण है, कि इन्होंने उपेक्षित और प्रताड़ित नारी को केन्द्र में रखकर सृजन किया तो नाटककार भुवनेश्वर प्रसाद जैसे लगभग विस्तृत साहित्यिक प्रतिभा

को याद करते हुए रचनात्मक जगत में विसंगतियों से जूझती प्रतिकाओं के दर्द को भी वाणी दी है।¹

इतना ही नहीं मीराकांत ने अपने साहित्य में कश्मीर में हुए विस्थापन के कारण व्यक्तियों मानसिक और शारीरिक मनोदशाओं और उनकी आंतरिक व्यथा को भी अपने साहित्य की परिधि में स्थान दिया। आपने अपना साहित्य केवल मानव मात्र की कहानियों के आस पास ना रखकर, मनुष्य के संबंधों, अधिकारों और सत्ता के संघर्ष को यथार्थ रूप में प्रकट किया है। जो इस संघर्ष को उम्मीद की किरण देता नजर आता है। परन्तु स्वतंत्रता के इतने समय के पश्चात भी महिला समाज को हांसिये पर रखा गया। मीराकांत का साहित्य महिलाओं को समानता का अधिकार प्रदान कर उनको अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। और यह दर्शाने की कोशिश करता है की वर्तमान समय की नारी सशक्त और संघर्षशील हैं। आपने अपने साहित्य के माध्यम से कई ऐसे सवाल खड़े किये हैं जो महिलाओं के हक को सही मायनों में दिलवाने का कार्य करता है। “आज की तिथि में मीराकांत सबसे सक्रिय, श्रेष्ठ नाटककार है। उनके नाटक स्त्री-अस्मिता की कुलबुलाहट को सच्चाई में बयाँ करते हैं। मीराकांत के नाटक सिर्फ स्त्री-विमर्श की ही पैरोकारी नहीं करते, बल्कि वर्तमान समस्याओं पर भी विश्व समुदाय के समक्ष अपनी आवाज बुलंद करते हैं।

¹ www.meerakant.com

भारतीय जीवन की सच्चाईयों को नए प्रश्नों से जोड़ना उनके नाटकों की खासियत है, उनमें पश्चिम की आक्रामता लेश-मात्र नहीं।”²

मीराकांत का जन्म श्रीनगर में 1958 में हुआ, दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. तथा जामिया मिल्लिया इस्लामिया से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इनके शोध विषय “अंतरराष्ट्रीय महिला दशक में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका”। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) नई दिल्ली में अक्टूबर 2011 तक संपादक के रूप में कार्यरत रहने के बाद मीराकांत ने स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति ग्रहण की। “मीराकांत में विडम्बनापूर्ण स्थितियों और नाट्यगर्भी जटिल चरित्रों को खोजने और उनके इर्द-गिर्द एक भरा-पूरा परिवेश बनाने की प्रखर कल्पना शक्ति भी है। रंग-शिल्प, नाट्य भाषा और व्यंजनापूर्ण प्रभावी संवाद लेखन पर इन्हें पर्याप्त अधिकार है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटकों में संस्कृत के तत्सम बहुल शब्दों वाली परिनिष्ठित काव्यात्मक प्रवाहमयी हिन्दी और समकालीन परिवेश एवं चरित्रों वाले नाटकों में आधुनिक मुहावरेदार हिन्दी-उर्दू मिश्रित बोलचाल की जीवन-भाषा का इन्होंने समान सफलता से रचनात्मक प्रयोग किया है। नाटकीय बिंबों एवं प्रतीकों के सृजन में उन्हें महारत हासिल है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मीराकांत समकालीन हिन्दी नाट्य-परिदृश्य की समृद्ध संभावनाओं वाली एक महत्वपूर्ण नाट्यप्रति का है।”³

² प्रो. रमेश गौतम, उद्घटन वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का पुनर्लेखन, हिन्दी विभाग कक्ष संख्या 15, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिनांक 14/10/2009

³ जयदेव तनेजा, रंग-प्रसंग, अंक 27, पृष्ठ 42

एक नाटककार के रूप में मीराकांत का व्यक्तित्व सरल, सजीव और मार्मिक था। आपने महिला शक्ति और उनके साथ ऐसे लोगो के प्रति लेखन कार्य किया जिनको साहित्य जगत में किनारे कर दिया गया था। ऐसे लोगो को आपने साहित्य के केन्द्र में स्थापित करने का कार्य किया हैं। यहाँ मीराकांत का उद्देश्य किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुरेदना नहीं बल्कि साहित्य की सर्जन प्रक्रिया में अकेला महसूस कर रहे लोगो के प्रति अपने साहित्य को मददगार बनाने का है। इन उद्देश्यो को मीराकांत जी ने प्राप्त भी किया।

सतीश मेहता के अनुसार, “किसी सर्जना की रचना—प्रक्रिया निश्चितरूप से ऐसे ही अकेलेपन की माँग करती है, जिस पर मीराकांत शत—प्रतिशतखरी उतरती है। सफल बीजरूप में प्राप्त छोटे से सूत्र से अपनी कल्पनालोकके आधार पर ऐसा वृहद् संसार रच लेता है, जो वास्तविकता का आभास देताहै। ऐसे ही सूत्रों को आधार बनाकर मीराकांत अपना सृजन—कार्य करने में है।”⁴ रंगमंच के क्षेत्र में यह आरोप कि “मौलिक नाटकों का अभाव है बेबुनियाद है। हमारा कुछ वर्षों में यह भ्रम तोड़ दिया गया है कि हिन्दी में मौलिक नाटक व नाटककार नहीं है। कई हिन्दी नाटक है, जो सफलतापूर्वक मंचित किए जा रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि मौलिक हिन्दीनाटक के कंधे पर कोई शाप नहीं बैठा है। समकालीन रंग—परिदृश्य पर अपनी प्रभावी छाप छोड़ने वाला कोई दूसरा रचनाकार फिलहाल

⁴ प्रभात खबर, 17 मई, 2008

हमारे सामने नहीं है।”⁵ “मीराकांत ने ‘स्त्री-विमर्श’ को अपने साहित्य के केन्द्र में इस रूप में प्रतिष्ठित किया है, जो स्त्री को समानता का अधिकार देते हुए भी हर युग के प्रासंगिक सत्य को समाज के समक्ष रखा है, जहाँ कोई भी देश या काल, बुद्धिमती-विदुषी स्त्री को पुरुष समाज कभी सह नहीं पाता। चाहे ‘कन्धे पर बैठा था शाप’ की विद्योतमा हो या ‘नेपथ्य राग’ में चौथी-पाँचवीं शती की रचना हो या 20वीं, 21वीं शती की मेधा, या एक अन्य पर ‘ईहामृग’ की स्नेहगंधा, सिक्तछाया और सागरिका पुरुष की इच्छा और उसी से निर्णय से अवश-सी बंधी है। आज के आक्रामक स्त्री-विमर्श और स्वच्छंदतावादी आधुनिकता के बावजूद बुनियादी स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। हाँ, समयानुसार पुरुष द्वारा स्त्री को अपने हक में इस्तेमाल करने के तरीके जरूर बदल गए हैं।

पुरुष प्रधान समाज अपने रचनात्मक व्यक्तित्व को साहित्य के माध्यम से समाज के समक्ष अत्यंत कठिन दुरुह कार्य है, आज उनके रचनात्मक परिवेश को किसी परिचय की आवश्यकता नहीं, वह विश्व में अपनी लेखनी से अपनी जगह बना चुकी है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में स्त्री-समस्याओं से संबंधित बहुत-सा सर्जनात्मक तथा वैचारिक साहित्य सामने आ रहा है, जिसके फलस्वरूप स्त्री आकांक्षाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने एवं गंभीर सवालों के साथ-साथ समझने की

⁵ जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2010, नई दिल्ली, पृष्ठ 28

जरूरत महसूस होने लगी है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक परंपरागत रूढ़ियों एवं व्यवस्थाओं की जड़ता को तोड़ने का प्रयास करते हैं। स्त्री के संपूर्ण विकास के लिए स्वातंत्र्योत्तर नाटककार स्त्री-अधिकारों की सामाजिक चकबंधियों से टकराकर सामाजिक-नैतिक नियमों की एक पक्षीय नीति का विरोध करते प्रतीत होते हैं। इस क्रम में मीराकांत के नाटक कुछ आगे बढ़ते हुए स्त्री-मुक्ति एवं स्त्री विमर्श में अपनी वैचारिक भूमिका को दर्ज करते हैं। मीराकांत के नाटक (नेपथ्य राग, कंधे पर बैठा था शाप, उत्तर-प्रश्न, अंत हाज़िर हो आदि) नारी-संबंधि युगीन प्रश्नों को प्रस्तावित करते हैं। पाठक एवं दर्शक को नारी के वर्तमान एवं भविष्य के प्रति चिंतित एवं बेचैन करते हैं। परिधि पर छिटकी स्त्री की व्यथा को प्रस्तुत करते हुए ये नाटक इस बात को भी स्पष्ट करते हैं, कि किस तरह स्त्री का सांस्कृतिक संहार किया गया तथा किस तरह स्त्री के अस्तित्व उसकी अस्मिता एवं आत्म-निर्भरता को दमन करने के लिए पुरुष ने हर युग में अपनी सत्ता की शक्ति एवं वर्चस्व के एकाधिकार का प्रयोग किया।⁶

1.2 रचनाएँ

नाटक

- ईहामृग
- नेपथ्य राग

⁶ हिन्दी नाटक : नई परख, सपा. रमेश गौतम, स्वराज प्रकाशन

- भुवनेश्वर दर – भुवनेश्वर
- कन्धे पर क्यों बैठा शाप
- मेघ – प्रश्न
- बहती व्यथा सतीसर
- हुआ को उड़ जाने दो
- अंत हाज़िर हो
- उत्तर–प्रश्न
- पुनरपि–दिव्या (नाट्य रूपांतरण)
- तीन अकेले साथ–साथ (एक नाट्य)
- बाबूजी की थाली (नुक्कड़ नाटक)

उपन्यास

- तत किम्
- उर्फ हिटकर
- एक कोई था कहीं नहीं–सा

कहानी-संग्रह

- हाइफन
- कागजी बूर्ज
- गली दुल्हन वाली
- प्रेम सम्बन्धों की कहानियाँ

लम्बी कविताएँ

- तुम क्या निर्वस्त्र करोगे मुझे?
- ध से धूल कब साफ होगी

बाल साहित्य

- नाम था उसका आसमानी
- ऐसे जमा रेल का खेल

शोध

- अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिन्दी पत्रकारिता मीरां : मुक्ति की साधिका
- असंभव समय की आत्मसंभवा संपादिका : महादेवी वर्मा, एम.ए.

अनूदित साहित्य (अंग्रेजी)

- इन द विंग्स (नेपथ्य राग) नाटक
- साहित्य अकादेमी की पत्रिका 'इंडियन लिटरेचर' में मई-जून 2004 में प्रकाशित, अनुवाद : मनु विक्रमन
- हर्ड बट नेवर सीन (कंधे पर बैठा था शाप) (नाटक) (साहित्य अकादेमी की पत्रिका, 'इंडियन लिटरेचर' में जनवरी-फरवरी 2007 में प्रकाशित

अनुवाद : मनु विक्रमन

- डिसरोब मी वॉट यू विल! (कविता), इम्फाल फ्री प्रेस, 2 जुलाई 2006 में प्रकाशित अनुवाद- सुहासिनी और मनु
- आफरिंग ऑफ मेमोरिज (स्मृति-पिंड) कहानी, 'इंडियन काउंसिल फार कल्चरल रिलेशन्स की पत्रिका 'इंडियन 'हाराइजन्स' में दिसंबर 2008 में प्रकाशित अनुवादक : रजना कौल
- दि वेल्ड वन (रूपोश), (कहानी) लंदन के प्रकाशन गृह 'पिकाडोर' से 2009 में प्रकाशित कहानी संग्रह 'द फियर फैक्टर में संग्रहित'

संदर्भ

1. www.meerakant.com
2. प्रो. रमेश गौतम, उद्घटन वक्तव्य, हिन्दी साहित्य का पुनर्लेखन, हिन्दी विभाग कक्ष संख्या 15, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिनांक 14/10/2009
3. जयदेव तनेजा, रंग-प्रसंग, अंक 27, पृष्ठ 42
4. प्रभात खबर, 17 मई, 2008
5. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2010, नई दिल्ली, पृष्ठ 28
6. हिन्दी नाटक : नई परख, सपा. रमेश गौतम, स्वराज प्रकाशन

द्वितीय अध्याय

भारत में 'स्त्री जागरण एवं आन्दोलन' विभिन्न पड़ावों का संक्षिप्त सर्वेक्षण 'स्त्री स्वतंत्रता स्त्री मुक्ति'

भारतीय समाज सदैव आदर्शवादी रहा है, जहाँ पर भारतीय नारी सम्माननीय और पूजनीय तो है परन्तु इनके लिए स्वातंत्र्य शब्द उपयुक्त नहीं लगता, क्यों की वास्तविकता में भारतीय नारी स्वतंत्र है ही नहीं। यहाँ उनको अनेक रूढ़िवादी परम्पराओं और कुरुतियों ने जकड़ रखा है। तथा पुरुषवादी समाज होने के कारण उनको ये सब अधिकार कभी प्राप्त ही नहीं हुए। पश्चिम के देशों में चले नारी मुक्ति आंदोलनों का कुछ असर भारतीय समाज में भी दिखाई दिया परन्तु यह असर अपनी छाप नहीं छोड़ पाया, भारतीय नारी हमेशा से ही जीवन के उतार चढ़ाव और संघर्ष को सहन करती आई है। पाश्चात्य आंदोलनों के कारण भारतीय नारी में सजगता के भाव, आत्मनिर्भर होने का भाव और समान अधिकारों की बात दृष्टिगोचर होता है।

2.1 भारतीय दृष्टि : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय नारी को वैदिक काल में देवी की प्रतिभा के रूप में पूजा गया था। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता की भावना को साकार रूप प्रदान किया गया था। जहाँ गार्गी, मैत्रेयी, सूर्या, अपला, देवयानी जैसी आदर्श और महान नारियों को देखा गया जिन्होंने न केवल आध्यात्मिक व दार्शनिक चिंतन का प्रतिनिधित्व किया

वरन भारतीय नारी के लिए भविष्य की अपार संभावनाओं का मार्ग भी प्रसस्थ किया, तथापि उत्तर वैदिक काल में भी महिलाओं की स्थिति में गिरावट आने लगी।

आशारानी व्होरा के अनुसार, “स्मृति काल में आकर स्त्री की स्थिति में और गिरावट आई। वह केवल माता के रूप में आदर की पात्र रह गई। एक स्त्री, पत्नी और प्रेयसी के रूप में उसकी प्रतिष्ठा न रही। विवाह की आयु घटती रही और विवाह की आदर्श अवस्था आठ-नौ साल मानी जाने लगी। इससे शिक्षा भी नाम-मात्र की रह गई।”¹

भारतीय समाज में स्त्री की दशा सदैव दयनीय ही रही है और वैदिक काल के पश्चात् स्थिति और बिगड़ गई, पितृसत्तात्मक समाज ने महिलाओं पर तरह-तरह के बंधन व अंकुश डालने शुरू किए रूढ़िवादी मानसिकता व अंधविश्वास के कारण नारी को सदैव प्रताड़ित किया जाता था। इसका लिए सदैव भारतीय समाज की रूढ़िवाद व विदेशी आक्रांताओं के स्त्री-लोलुप आचरण को जिम्मेदार ठहराया गया है “भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों और मुगलों के राज्य के बाद, स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आई। ब्राह्मणों ने रक्त की शुद्धता स्त्री-सतीत्व की रक्षा और हिन्दू धर्म की रक्षा के नाम पर उसे इतने अधिक सामाजिक बंधनों से जकड़ दिया कि उसके स्वतंत्र अस्तित्व का नामोनिशान न रहा। लड़कियों की शिक्षा एकदम समाप्त हो गई। मुस्लिम आक्रमणों के दौरान लड़कियों के अपहरण की घटनाएँ बढ़ी तो हिन्दुओं में छोटी-छोटी बच्चियों का विवाह किया जाने लगा। पर्दा प्रथा भी

¹ आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा और दिशा, पृष्ठ 26

प्रारंभ हो गई।² अर्थात् जिस भारतीय नारी को वैदिक काल में पूजनीय माना जाता था, पूजा जाता था, उसे धीरे धीरे रूढ़िवादी समाज की व्यवस्थाओं और परम्पराओं ने दासी बना दिया। यही से नारी की स्वतंत्रता का बहिष्कार होने लग गया।

महिलाओं को मात्र साधन मान लिया गया और भोग विलास की वस्तु मान लिया गया। मुगलों द्वारा बहु पत्नी रखने की परम्पराओं के साथ बादशाहों की अनेको पत्नियाँ रखने की परम्पराएं विद्यमान थी। हिन्दुओं ने अपनी पत्नियों और बहन बेटियों को इस कुदृष्टि से बचाने के लिए पर्दा प्रथा का आश्रय लिया।

उसके उपरांत भारतीय समाज में अंधकार छा गया, अंग्रेजों के आगमन के कारण स्थिति ओर जटिल हो गई, किंतु नवजागरण के कारण भारतीय जनमानस पर जो अंधकार छा गया था, व उनकी आत्मचेतना सो गई थी, वह पुनः जाग उठी। अंग्रेजों का साम्राज्य पूरे भारतवर्ष में स्थापित हो गया था, और अंग्रेजों का साम्राज्य पूरे भारत पर छा गया सारे राज-राजवाड़े अंग्रेजों के अधीन हो गए, किंतु तभी पश्चिम से आई ज्ञानोदय की क्रांति ने भारतीय समाज में एक नए प्रबुद्ध वर्ग की आत्मचेतना को जगाने का प्रयास किया। नवजागरण की आंधी ने सो रही भारतीय आत्मचेतना को चुनौतियों व तत्कालीन कुरीतियों के विरुद्ध लड़ने भाव उत्पन्न किया, और भारतेन्दु जैसे समाज सुधारक के कारण पुनरुत्थान का संकल्प भारतीय समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने लिया। यह उत्थान भविष्योन्मुख था।

²आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा और दिशा, पृष्ठ 6

यह केवल भाषा साहित्यों का ही नहीं अपितु भारतीय इतिहास परम्परा के नए अध्याय का काल माना जाता है। यह जन जागरण भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नए आयाम देने वाला था। साथ ही आध्यात्मिक चेतना और हिंदुत्व के जीवन दर्शन पर अधिष्ठित था। आत्महीनता और आत्म विस्मृति के गर्त में डुबे भारतीयों को जब मुसलमानों के बाद पाश्चात्य जाति—अंग्रेजों का शासनाधिपत्य प्राप्त हुआ, तब जाकर उन्हें अपने सामाजिक—सांस्कृतिक—राजनैतिक पतनोन्मुखता का बोध हुआ। अंग्रेजों के आधिपत्य ने उनके आत्माभिमान को झकझोरा, वहीं पाश्चात्य वैज्ञानिकता व दार्शनिकता से परिचित होने का सुअवसर भी प्राप्त कराया। परिणामस्वरूप भारतीय आध्यात्म और पाश्चात्य भौतिकता में नये संघर्ष और नई चेतना का उदय हुआ। राजनेतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी स्तरों पर यह चेतना विकास करती रही। इन सब के मध्य इस नवजागरण के विषय में अनेक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ। यूरोपीय चेतना के आगे भारतीय जीवन दर्शन को अस्वीकार भी किया गया, तो कहीं कहीं भारतीय संस्कृति को पाश्चात्य की तुलना में बेहतर भी बताया गया।

कहीं—कहीं यह पूर्व और पश्चिम में सामंजस्य बैठाकर उसे भारतीय संदर्भों में रूपायित भी किया। इस नवचेतना के अग्रणी बने राजाराममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी आदि।

नवजागरण का फलस्वरूप भारतीय समाज में बस चुकी अनेक कुरुतियों का दमन हुआ, उन्नीसवीं शताब्दी आने तक भारत का समाज का रूढ़ियों जडताओं व

कुप्रथाओं के जाल में फंसकर तडप रहा था। वहीं धार्मिक भावनाओं का स्थान पाखंड और कर्मकांड ने ले लिया था।

पूरी सामाजिक व धार्मिक-नैतिक मान्यताएँ समाज के समक्ष रखी गई थी वह पूर्ण व्यवस्था को विश्रुंखलित व खोखला कर रही थी। वही दूसरी अंग्रेजों अंग्रेजी राज की स्थापना के उपरांत ईसाई मिशनरियों ने धर्म-परिवर्तन की क्रूर नीतियों का सहारा लिया और हिन्दू धर्म को तुच्छ-मृत बताकर हिन्दुओं की भावनाओं पर प्रहार किए गए। सेवा के नाम पर पिछड़े गरीब दलित हिन्दुओं के पंथ-परिवर्तन का सुनियोजित षड्यंत्र चलाया गया जिसके कारण प्रबुद्ध भारतीयों का स्वाभिमान जागृत होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप इन्होंने अपने धार्मिक-सामाजिक बुराईयों को दूर करने का निश्चय किया? अपने धर्म-दर्शन व सामाजिक मान्यताओं को आधुनिकता व युगीन संदर्भों में प्रासंगिकता बचाने का प्रयास किया, जिन पर आधुनिक भारत की नींव डाली जा सके। यहीं से अतीत की ओर देखने का प्रयत्न भी हुआ। अतीत को पुनर्व्याख्यायित किया गया। समाज की कुरीतियों-बुराईयों से मुक्ति के लिए धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों का आंदोलन चलाया गया।

चूँकि भारत देश में धार्मिक और सामाजिक स्तर पर महिलाओं के उपर कई प्रकार के कड़े प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कभी धर्म के नाम पर, कभी सामाजिक परम्पराओं के नाम पर, कभी पाखण्डों के कारण अनेक प्रकार से उत्पीडन का सामना कर रही थी भारतीय नारी। इसलिए धार्मिक सुधार के पक्षधर और नारी उत्थान की सोच रखने वाले व्यक्तियों का ध्यान इस ओर जाना स्वाभाविक ही था

और यही तात्कालिक समय की मांग भी थी। उसकी उपेक्षा समाज के लिए घातक होती जिसकी अनदेखी करके सामाजिक नवनिर्माण की बात बेमानी सिद्ध होती। अतः सुधारकों ने नारी को उसकी दयनीयता से उबारने का प्रयास आरंभ किया, जिसकी वजह से नारी प्रत्येक सुधार आंदोलन का केंद्र बनी। विभिन्न प्रकार की कुप्रथाओं सती-प्रथा, बाल विवाह व विधवा समस्या अशिक्षा आदि की वजह से भारतीय नारी ही नहीं, पूरा समाज जर्जरित हो रहा था, अतः सुधारकों ने यह महसूस किया कि इन कुप्रथाओं को मिटाए बिना समाज सुधार का दावा खोखला और अस्वीकार्य होगा। नारी को आधार बनाकर सुधार आंदोलन किए गए। इन कार्यों के कारण स्त्रियाँ तो अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक व सचेत बनी ही, पूरे समाज के नजरिये में बदलाव भी आया। इन स्त्री सुधार आंदोलन के संदर्भ में यह बात द्रष्टव्य है, कि पश्चिम की तरह इन आंदोलनों या अगुवा महिलाएँ न होकर पुरुष सुधारक ही थे, ये वही पुरुष सुधारक थे, जिन्हें भारतीय नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। इस प्रकार संपूर्ण राष्ट्रीय सामाजिक-सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रगण्य नेता इस स्त्री आंदोलन नारी ज्ञान का उदय और चेतना का संचात होना विश्व महिला आन्दोलन की एक अनूठी विशिष्टता हैं, जहाँ स्त्रियों की दशा सुधारने और उन्हें समाज की मुख्य धारामें लाकर बराबर का दर्जा देने का बीड़ा पुरुषों द्वारा उठाया गया। जो की भविष्य में महिलाओं की प्रगति का कारण बना और नारी समाज प्रगति पथ पर अग्रसर हुआ। भारत में नारी मुक्ति का प्रश्न भारतीयता के पुनर्निर्माण के साथ जुड़कर रहा और अनेको सन्दर्भ में स्त्रियों की दशा सुधारने के प्रयत्न भी हुए। भारतीय नारी आंदोलन की इस विशिष्टता को रेखांकित करती हुई आशारानी

व्होरा लिखती है, “नारी जागरण का प्रश्न हो या नारी अधिकारों काया राष्ट्रीय कार्यों में नारी की भागीदारी का, पुरुषों ने आगे बढ़कर उसका आह्वान किया और दोनों कंधे से कंधा मिलाकर आजादी की लड़ाई व समाज सुधार के कार्यों में भाग लेते रहे। पुनर्जागरण काल में नारी जागृति और नारी उत्थान के लिए आवाज उठाने वाले राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महात्मा गांधी, आचार्य कर्वे जैसे महान नेता व सुधारक ही थे। नयी स्थितियों में भी समय-समय पर महिला असंतोष की आवाज उठती है, तो सभी परिवर्तन कामी पुरुष विचारक, नेता और संपादक न केवल उसका स्वागत करते हैं अपने प्रयत्नों से उसे बल भी प्रदान करते हैं।”³

स्पष्ट हैं की भारतीय नारी के उत्थान का यह प्रयास एक और महिलाओं सम्बन्धित कुप्रथाओं से मुक्ति के लिए जन जागरण और नवचेतना का सहारालेता है तो दूसरी ओर अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ हुए स्वतंत्रता संग्राम में अपना महत्वपूर्ण योगदान भी देता है। चूँकि भारत में राजनेतिक और सामाजिक जनजागरण साथ साथ हुआ हैं। इसलिए भारतीय महिलाओं के संघर्ष को राजनेतिक और सामाजिक तोर पर अलग-अलग देखा जाना उचित प्रतीत नहीं होता है। महिलाओं के इस संघर्ष को चेतना और आन्दोलन के स्रोत के रूप में देखा जाना ही उचित हैं। भारतीयनारी चेतना के इसी प्रवाह को महिला आंदोलन के स्रोत के रूप में स्वीकारकिया जाता है। वीणा शिवपुरी के अनुसार, “भारत में संगठित रूप से आंदोलनका स्वरूप कुछ दशक पुराना ही है, परंतु इसकी जड़े दूर तक जाती है।

³ आशारानी व्होरा, नारी शोषण: आइने और आयाम, पृष्ठ 249

महिला जागृति की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आंदोलन तथा आजादी और गतिशीलता नज़र आती थी, वह शायद आज भी सभी औरतों को हासिल नहीं है, लेकिन दुर्भाग्य से आजादी मिलने पर कुछ मुट्ठी भर औरतों ही राजनीति में आई। बाकी सभी-सभी अपने-अपने घरों को लौट गईं। उस दौरान पैदा हुई जागरूकता किसी मजबूत आंदोलन में नहीं बदल सकी।⁴ कुल मिलाकर देखा जाए तो भारतीय नारी चेतना का विकास और नारी मुक्ति का संघर्ष भारतीय पृष्ठभूमि में दो आधार-बिन्दुओं पर केन्द्रित रहा है। पहला, कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष के रूप में और दूसरा, स्वतंत्रता आंदोलन के क्रमिक विस्तार के साथ नारी जागरण के रूप में।

2.2 नवजागरण काल में कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष

नवजागरण काल तक आते-आते भारतीय समाज अनेक प्रकार की रूढ़िवादी कुरूपतियों में फंस चुका था, उस समय के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी लोगो ने समाज को इन परम्पराओं से मुक्त करने के लिए अनेक प्रकार के आन्दोलन चलाये। इन समाज सुधार आन्दोलनो का प्रतिनिधित्व भारत के कई महापुरुषों ने किया इन आंदोलनो का प्रभाव सम्पूर्ण भारत में हुआ। इस आन्दोलन की सबसे बड़ी सफलता यह रही की अब नारी के उपर हो रहे अत्याचारो को देखकर उसकी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष होने लगे। तथा समाज में व्याप्त बाल विवाह, पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, सती प्रथा दुष्प्रवृत्तियों का विरोध किया, इस आंदोलन की ओरसर्वप्रथम बंगाल के राजा

⁴ सबला, अक्टूबर-नवंबर, 1997, पृष्ठ 11

राममोहन का गया और वह इस आंदोलन के अग्रदूत बने और इन सुधारकों का केन्द्र बंगाल ही बना, राजा राममोहन आधुनिकभारत का निर्माता कहा जाता है। इन्हें ही स्त्री सुधार आंदोलन को आरंभ करनेका भी श्रेय प्राप्त है।

राजाराम मोहनराय

राजाराम मोहनराय को स्त्री सुधार आन्दोलनों का जनक माना जाता है। आपने ही सर्वप्रथम स्त्रियों की दयनीय स्थिति पर ध्यान दिया, सतीप्रथा को एक कुप्रथा साबित करवाकर उसें गेर कानूनी प्रथा घोषित करवाया। आपने सतीप्रथा को आधुनिकता के साथ-साथ शास्त्रों के अनुरूप भी अध्ययन किया और पाया की ये शास्त्रों के हिसाब से भी प्रासंगिक नहीं हैं और आधुनिक परिवेश के अनुरूप तो बिल्कुल भी तर्क सम्मत नहीं हैं। अपनी 'संवाद कौमुदी' पत्रिका व अन्य छोटी पुस्तकों की रचना के माध्यम सती प्रथा की भयंकरता को समझाया इसके लिए अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा किन्तु अपने प्रबुद्ध तर्कशीलता के कारण इन्होंने विरोधों का समाना किया और इनके सद्प्रयासों के परिणामस्वरूप 4 दिसम्बर, सन् 1829 ई. को बंगाल प्रेसीडेन्सी द्वारा सती प्रथा को अवैध घोषित किया गया, और इसके उपरांत में यदि कोई जबरन सती प्रथा को कराने वालों के लिए मृत्युदण्ड का प्रावधान किया गया और बंगाल से सीधा प्रभाव बंबई और मद्रास की ओर गया और वहाँ भी इसके विरुद्ध आंदोलन चला, और इस कानून द्वारा सहमरण जैसे अमानवीय कृत्यों से स्त्रियों को बचा लिया गया और दूसरा बड़ा कार्य इन्होंने स्त्री के पक्ष में विधवा विवाह की वकालत का किया, जिसके परिणामस्वरूप 15

नवंबर, सन् 1756 ई. को कानून द्वारा विधवा विवाह को कानूनी मान्यता प्राप्त हुई। जिसका परिणाम यह हुआ स्त्री-शिक्षा का मार्ग प्रशस्त हुआ और कन्या वध बंध हुआ, राजा राममोहन राय ने स्त्रियों के उत्तराधिकार का समर्थन किया तथा विवाह के अवसर पर सादगीपूर्ण आचरण पर जोर दिया। मीराकांत इनकी सुधार भावना की महत्ता को रेखांकित करती हुई लिखती है, "महिलाओं की समस्याओं से जुड़े समाज-सुधार के कार्य में राजा राममोहन राय को जिस आधार ने प्रेरणा दी, वह था मानवतावादी तार्किक विचारधारा। उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंध को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा और यही कारण था कि सती प्रथा के खिलाफ कानून बन जाने पर भी वे संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने बहु विवाह प्रथा के खिलाफ भी आवाज उठायी महिलाओं के संपत्तिगत अधिकारों के लिए भी उन्होंने संघर्ष किया। साथ ही दहेज प्रथा व लड़कियों की बिक्री का भी उन्होंने जमकर विरोध किया। कुछ मिलाकर वे मध्ययुगीन रूढ़ियों के विरुद्ध एक वे नई चेतना लाने के लिए जीवन-पर्यन्त सक्रिय रहे।"⁵

इन्होंने सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की थी, जहाँ प्रारंभ से ही महिलाओं के लिए अलग से कार्य करने का प्रयास किया गया। आशारानी व्होरा के अनुसार, "यह पहली संस्था थी, जिसने महिलाओं के पृथक् अस्तित्व को मान्यता दी।"⁶ ब्रह्म समाज सन् 1866 ई. में दो भागों में बँट गया। देवेन्द्र नाथ टैगोर के नेतृत्व में इसकी एक वर्ग ने विधवा विवाह और महिला शिक्षा पर काफी कार्य किए,

⁵ मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 63

⁶ आशारानी व्होरा, नारी विद्रोह के भारतीय मंच, पृष्ठ 40

इसका प्रभाव यह हुआ जहाँ भारतीय समाज पुरुषसत्तात्मक समाज की जटिलताओं से पृथक होकर नवयुवक समाज अपनी गृहणियों के साथ प्रार्थनाओं में सम्मिलित होता गया और पर्दा प्रथा का विरोध किया गया इस तरह बाल—विवाह का विरोध, विधवा विवाह का समर्थन किया गया, अंतर्जातीय विवाह की अनुमति दी गई और बहुविवाह का विरोध किया गया और इस समय की धारा में केशवचन्द्र सागर ने ब्रह्म समाज महिलाओं की समस्याओं के प्रति और अधिक जागरूक व सचेत बना।

महिला सशक्तीकरण जो आज के युग में 'स्त्री—अस्मिता को खोजता है, उसकी नींव उन्नत सदी शताब्दी में पड़ चुकी थी, जिसमें स्त्री शिक्षा को प्रशस्त करने के लिए बालिका विद्यालय खोलकर महिलाओं को शिक्षा देने का मार्ग प्रशस्त किया गया। सन् 1872 ई. के 'सिविल मैरिज एक्ट' द्वारा अंतर्जातीय विवाह को न्यायसंगत ठहराया गया, विधवा विवाह की अनुमति दी गई और बहुविवाह पर रोक लगा दी गई। कुल मिलाकर ब्रह्म समाज ने स्त्रियों की दशा को सुधारने का सफल प्रयास किया, जिससे कुरीतियों से मुक्ति का मार्ग आगे की प्रशस्त हुआ।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ब्रह्म समाज से जुड़े बंगाल के प्रमुख समाज सुधारक थे, इन्हीं के द्वारा 1856 में 'विधवा पुनर्विवाह सुधार अधिनियम' पारित हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर एक प्रख्यात शिक्षाशास्त्री थे, इनका ध्यान विधवा पुनर्विवाह, बाल—विवाह विरोध, बहुविवाह विरोध के अतिरिक्त स्त्री शिक्षा की ओर भी आकृष्ट हुआ। फलतः इन्होंने 19वीं शताब्दी के मध्य में यानी सन् 1849 ई. में पहला महिला स्कूल खोला, जो बाद में पहला महिला कॉलेज बेचुन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध

हुआ। नीरा देसाई के अनुसार, “समाज में स्त्रियों की स्थिति सुधारने की दिशा में राजा राममोहन राय ने विधवाओं का अग्नि-स्नान बंद करवाया और विद्यासागर ने विधवाओं को वैधव्य जीवन की यम यातनाओं से बचाया और कानून द्वारा पुनर्विवाह को अनुमति दिलाने का प्रयास किया।”⁷

(क) आर्य समाज आंदोलन

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 ई. में की थी। इस समाज की स्थापना पुनरुत्थान के कारण हुई, इन्होंने स्त्री शिक्षा को बढ़ावा दिया।

पर्दा प्रथा का विरोध किया, बाल विवाह, दहेज प्रथा व अनमेल विवाह का इसने विरोध किया। स्त्री-शिक्षा को स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बढ़ावा देने के लिए अलग-अलग स्थानों पर विद्यालयों व कॉलेजों की स्थापना की। यद्यपि पहले दयानन्द सरस्वती सहशिक्षा के पक्षधर नहीं थे बाद में उन्होंने एंग्लो-वैदिक शिक्षण-संस्थाओं में सहशिक्षा की स्वीकृति को स्वीकार किया स्त्री की भागीदारी सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में हो सके। इसका परिणाम यह हुआ समाज सुधारक आंदोलनों स्त्रियों की भूमिका देखी जाने लगी आर्य समाज महिला शिक्षा के लिए खुलकर अहम भूमिका निभाई।

“महिलाओं की स्थिति में सुधार कार्य के बावजूद आर्य समाज भी ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की भाँति नारी मुक्ति आंदोलन में सीमित योगदान ही दे

⁷ नीरा देसाई, भारतीय समाज में नारी, पृष्ठ 42

पाया। इसके विपरीत इन आंदोलनों ने महिलाओं के लिए उनका प्राथमिक कर्तव्य बताकर जिन मूल्यों पर बल दिया, वे थे पति से प्रेम व उसकी सेवा करना तथा बच्चों को पारंपरिक शांति से पालना।” महिलाओं के अधिकार को लेकर उन्होंने विभिन्न पत्रिका निकाली।

(ख) प्रार्थना समाज आंदोलन

केशवचन्द्र सेन ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। जिसके संस्थापक आत्माराम पांडुरंग थे। यह एक धार्मिक समाज था, महिला के अधिकारों व समर्थन के लिए, अंतर्जातीय विवाह, अछूतोद्धार को मिटाने के लिए प्रयासरत था, यह स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे प्रार्थना समाज का मुख्य उद्देश्य जाति-व्यवस्था को समाप्त करना, नारी शिक्षा के लिए रात्रि पाठशालाएँ खोलना, विधवा विवाह को बढ़ावा देना, महिला शिक्षा संघ व विधवा आश्रमों की स्थापना करना आदि शामिल हैं और इसके प्रमुख संस्थापक महादेव गोविंद रानाडे और भंडारकर को है। ‘इंदु प्रकाश’ जैसी पत्रिका विधवाओं का समर्थन किया गया है। “ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज दोनों आंदोलनों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दू परंपराएँ महिलाओं की इस दुर्दशा का आधार नहीं है। पाश्चात्य प्रभाव में उन्होंने महिलाओं के व्यक्तित्व को पहचाना। किंतु मुख्यतः उनका ध्येय स्त्रियों को बेहतर पत्नी व माँ बनाया था। उनका आदर्श ऐसी महिलाएँ थीं जो आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर परिवार

को सुचारु रूप से चलाए और अपने पति व पुत्र के साथ समझ के स्तरों की खाई को पाट सके।”⁸

(ग) देशी-विदेशी महिलाओं का योगदान

‘स्त्री-अस्मिता’ का भाव जब स्त्रियों के अंतर्गत अपने अधिकारों का बोध हो गया, तो वह पुरुष प्रधान समाज के खिलाफ खड़ी हो गयी। वह अब पितृसत्तात्मक समाज के विरुद्ध अपने खड़ी हो गई। इस धारा में पंडिता रमाबाई ने जहाँ उपेक्षित महिलाओं के लिए ‘शारदा सदन’ व ‘मुक्ति सदन’ की स्थापना कर स्त्री शिक्षा व समाज सुधार का कार्य किया और ‘द हाई कास्ट हिन्दू विजे’ पुस्तक में हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों का पर्दाफाश किया, वहीं रमाबाई रानाडे ने ‘आर्य महिला संघ’ की अध्यक्षता के नाते घर-घर जाकर महिलाओं को जगाया। अपनी संस्था ‘सेवा सदन’ के माध्यम से स्त्रियों को शिक्षित कर उन्हें आजीविका प्रदान करने और उनकी सामाजिक स्थिति सुधारने का बीड़ा उठाया। इसी प्रकार आनन्दीबाई जोशी और फेंकीना सोरबजी ने भी महिलाओं में व्याप्त अशिक्षा को दूर करने का प्रयास किया।

‘भगिनी निवेदिता’ ने बंगाल में नारी उत्थान का कार्य किया, शिक्षा के प्रचार-प्रसार के माध्यम से किया। विदेशी महिलाओं ने ‘थियोसफिकल सोसाइटी’ की संस्थापिका ब्लावत्सकी, मार्गरेट नोबल ने नारी उत्थान के लिए कार्य किया।

⁸ टुवार्ड्स इक्वैलिटी, पृष्ठ 42

“भारत में बाल-विवाह होने के कारण ही अनेक संक्रामक रोग शीघ्रमृत्यु, क्षीण शक्ति और स्नावयिक रोग व्याप्त हुए हैं। इसी के कारण युवावस्था में ही वृद्धावस्था प्राप्त हो गई है। इन्हीं कुप्रथाओं के कारण हमारा राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रों के सामने पिछड़ा हुआ दिखता है।”⁹

(घ) अन्य सुधारकों द्वारा प्रयत्न

प्रार्थना समाज और आर्य समाज तथा राममोहन राय ने स्त्रियों की शिक्षाका समर्थन किया, जिनमें कर्वे, महात्मा फूले, विवेकानन्द, सईद रखान जैसे चिंतक सुधारक शामिल थे। महाराष्ट्र में कर्वे स्वयं एक विधवा से विवाह करके समाज-सुधार की ओर उन्मुख हुए। इनके इस कार्य से कट्टरपंथी लोग नाराज भी हुए।

विधवाओं की दयनीय दशा की ओर इनका ध्यान विशेष रूप से गया। इस दिशा में कारगर कदम उठाते हुए इन्होंने हिन्दू विधवा आश्रम तथा महिला विद्यालयों की स्थापना की। विधवाओं तरह-तरह से प्रशिक्षित कर उन्हें आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया तथा विधवा-विवाह संघ को पुनर्जीवित किया। महिलाओं की शिक्षा की ओर ध्यान देते हुए सन् 1916 ई. में ‘श्रीमती नत्थी बाई दामोदर विश्वविद्यालय’ की स्थापना की, जो महिलाओं का प्रथम विश्वविद्यालय है। इस प्रकार ये महिलाओं की उच्च शिक्षा के समर्थक भी सिद्ध हुए।

⁹ ऐनी बेसेन्ट, वेक अप इंडिया, पृष्ठ 40

इसी क्रम में स्वामी विवेकानंद का भी नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने स्त्रियों को शिक्षा देने का आह्वान किया और कहा कि, स्त्रियों में अवश्य ही यह क्षमता होनी चाहिए कि वे अपनी समस्याएँ अपने ढंग से हल कर सकें। उनका यह कार्य न कोई दूसरा कर सकता है और न किसी दूसरे को करना ही चाहिए। हमारी भारतीय महिलाएँ संसार की किन्हीं भी अन्य महिलाओं की तरह यह करने के योग्य हैं। इस रूप में सुधार आंदोलनों से स्त्रियों की बेहतरी का सिलसिला चलता रहा।

2.3 नारी संस्थाओं और पत्रिकाओं का योगदान

मीराकांत के अनुसार “नारी मुक्ति आंदोलन को परिपक्वता तब मिलनी शुरू हुई, जब भारतीय महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के लिए जागरूक महिलाओं ने महिला संगठनों की स्थापना की। इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्य समाज और ब्रह्म समाज जैसी संस्थाओं ने महिला शिक्षा की बढ़ोतरी और पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह प्रथा सरीखी सामाजिक बुराईयों के खात्मे की आधारशिला रखी। किंतु सही मायने में महिलाओं की बेहतरी के किसी भी कार्य को तभी परिपक्वता मिली, जब महिलाएँ स्वयं आगे आईं और इस क्षेत्र में सक्रिय व एकजुट होकर उन्होंने संगठनों की स्थापना की।”¹⁰ इससे पहले महिलाओं की एक पत्रिका

‘बामाबोधिनी’ सन् 1863 ई. से शुरू की थी। विधवाओं के लिए विवाह का नियमित विज्ञापन छापे जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में जाकर महिला

¹⁰ मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 71

संगठनों का निर्माण शुरू हुआ इस क्रम में स्वर्णकुमारी देवी ने 'दि लेडीज थियोसोफिकल सोसाइटी' में शाखा सदन की स्थापना की।

महिला पत्र-पत्रिकाओं का विधिवत् प्रकाशन भारतेन्दु युग से आरंभ हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, "प्रत्येक विषय के अलग पत्र न होते हुए भी स्त्री-शिक्षा के लिए दो-तीन पत्र अलग से निकाले गए थे। पतित दरबारी संस्कृति में स्त्रियाँ दासों के समान हैं, उनमें शिक्षा प्रचार का विचार करना भी साँप के मुँह में उंगली डालने के समान था। स्त्री शिक्षा में भारतेन्दु की विशेष रुचि थी और उनके घर में इसका प्रचार भी हुआ था। उन्होंने 'बाल-बोधिनी' पत्रिका केवल स्त्री शिक्षा के लिए निकाली थी। स्त्री शिक्षा के अभाव में स्त्रियों का लेखिका बनना तो स्वप्नवत् था, फिर भी प्रयाग से एक बैरिस्टर की धर्मपत्नी श्री हरदेवी ने 'भारत-भागिनी' नाम की एक पत्रिका निकाली जो राधाकृष्ण दास के हिन्दी पत्रों पर पुस्तक लिखने के समय तक निकल रही थी। श्रीहरदेवी 'भारतेन्दु' आदि दूसरे पत्रों में भी लिखती थी, और अपने समय की एक सुलेखिका थी। ऐसे ही लाहौर के प्रसिद्ध हिन्दी सेवक राय नवीनचन्द्र की पुत्री श्रीमती हेमन्त कुमारी देवी 'सृगृहिणी' पत्र की संपादिका थी। समय को देखते हुए इतना भी बहुत था।"¹¹

कुल मिलाकर उन्नीसवीं सदी की स्त्री-मुक्ति का प्रश्न सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों से मुक्ति के साथ जुड़ा हुआ था। यह अलग से अपनी मुक्ति की राह न देखकर सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्षों से जुड़कर नवजागरण में सन्निहित था,

¹¹ रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास, पृष्ठ 26-28

जिसमें स्वयं 'पुरुष' महापुरुषों ने आगे बढ़कर स्त्री उत्थान और कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। इस भूमिका को रेखांकित करते हुए मीराकांत ने लिखा है, कि "उस युग में चलाए गए आंदोलनों और व्यक्तिगत तौर पर महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु किए जा रहे प्रयासों की पहुँच एक खास तबके तक ही थी और यह था उस युग का अभिजात वर्ग, अधिकतर शिक्षित वर्ग। यही कारण है, कि इन आंदोलनों तथा प्रयासों का प्रभाव गाँवों, निम्न वर्गों और अशिक्षित जनता पर, जिनकी संख्या का अनुपात कहीं अधिक था, नहीं दिखता है और इस कारण इस आंदोलन और प्रयासों ने व्यवहार का रूप लेकर जनआंदोलनों की शकल अख्तियार नहीं की।"¹² स्त्री कल्याण के इन प्रयासों को पूरी सामाजिक संरचना के युगीन संदर्भ में ही देखना चाहिए। इन सुधार आंदोलनों में स्त्री को केन्द्र बनाकर समाज निर्माण हेतु नवजागरण किया गया, जिसकी परंपरा से विकसित होकर भारतीय समाज व्यवस्था में समकालीन नारी समाज के लिए पोषक तत्व प्राप्त हुआ है।

(क) गाँधी जी द्वारा महिलाओं का आह्वान

गांधीजी के आगमन से भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन को बल मिला और इसका आधार व्यापक बना, और जन आंदोलन के रूप में परिणित हुआ। इसके द्वारा चलाये गये आन्दोलन में 'सत्याग्रह आंदोलन', 'सविनय अवज्ञा आंदोलन', 'भारत छोड़ो आंदोलन' आदि में महिलाओं की भागीदारी सराहनीय रही और हजारों की तादात में महिलायें जेल भी गयीं। महात्मा गांधी इस बात को स्वीकार करते थे

¹² मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 65

की स्वतंत्रता की इस लड़ाई में पुरुषों के साथ साथ महिलाओं की भागीदारी भी आवश्यक है। “भारतीयराष्ट्रीय आंदोलन में असहयोग आंदोलन के दौरान ही सही मायने में गाँधी जीके नेतृत्व में महिलाओं का आंदोलन आगे बढ़ा। गाँधी जी की आवाज़ सुदूर गाँवों तक पहुँची और देश की आजादी के उद्देश्य को लेकर महिलाओं ने रातों-रात पर्दे को तिलांजलि दे डाली। देशभक्ति से प्रेरित होकर, सब बाधाओं को पीछे छोड़कर हजारों महिलाएँ स्वतंत्रता आंदोलन की लड़ाई में कूद पड़ी। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान लगभग बीस हजार महिलाएँ जेल गईं। आँकड़े बताते हैं कि इस प्रकार जेल जाने वालों में प्रत्येक छह व्यक्तियों में से एक महिला थी।”¹³

महात्मा गांधी जी तात्कालिक समय के बड़े नेता माने जाते थे। गांधी जी ने उस समय के आंदोलन में महिलाओं का आवाहन किया था, अतः महिलाओं ने अत्यंत ही उत्साह और निडरता के साथ में बड़ चड़ कर हिस्सा लिया था। सुभाषिणी पालीवाल के अनुसार “उनकी कोमलता तथा शक्तिहीनता की ओर से आशंकित आंदोलन के नेता यह देखकर चमत्कृत रह गए कि साम्राज्यवाद की ओर से आंदोलन को कुचलने के लिए ढाए जानेवाले कहर-क्रूरतम दमन के साथ कठोर से कठोर, निर्मम से निर्मम आघात को झेलने में महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा कहीं

¹³ कनक मुखर्जी, वूमंस इमेलियेशन मूवमेंट इन इंडिया, पृष्ठ 54

अधिव, दृढ़ता का परिचय दे रही थी। शायद युगों से अपने द्वारा ही अनानार झेलती नारी में प्रचण्ड सहनशक्ति विकसित हो गई थी।¹⁴

2.4 पश्चिमी दृष्टि

पाश्चात्य समाज के परिदृश्यो पर द्रष्टि से देखे तो विश्व में सर्वप्रथम पाश्चात्य समाज में ही नारी जागरण की शुरुवात हुई और यही से पित्र सत्तात्मक समाज के खिलाफ अधिकारो का वास्तविक उदय हुआ। इसे 'विमेन लिबरेशन मूवमेंट' नाम दिया गया। जिसका पूरा उद्देश्य नारी मताधिकार से जुडा हुआ था। इस आंदोलन का पूरा श्रेय 'ओघोगिक क्रान्ति' को जाता हैं। इन सभी का परिणाम स्वरूप स्त्रियों में रुढ़िवादी जंजीरो को तोडकर मीलो और फेक्टरियों में कार्य करने की शुरुवात की परन्तु वहां भी महिलाओं का शारीरिक और मानसिक शोषण हुआ। जिससे की स्त्रियों में पुरुष सत्तात्मक समाज के प्रति रोष चरम पर पहुँच गया। महिलाओं ने एकजुट होकर पित्रसत्तामक समाज के प्रति आवाज उठाई और अपनी आत्मचेतना को आत्मनिर्भरता में बदल दिया। जिससे की उनमें पुरुषो के खिलाफ खडे होने में ताकत मिली। जिसका परिणाम यह हुआ स्त्रियों ने रुढ़िवादी समाज वजटिलताओं से घिरे सामाजिक बंधनों की जंजीरों को तोड़कर मिलों वफैक्ट्रियों कार्य करना शुरू किया।

किंतु वहाँ भी उनका मानसिक व शारीरिकशोषण शुरू हुआ, फलतः स्त्रियों ने एकजुद होकर पुरुषसत्ता के खिलाफआवाजें उठायी और उनकी सोई हुई

¹⁴ सुभाषिणी पालीवाल, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता, पृष्ठ 60-62

आत्मचेतना ने 'आत्मनिर्भरता' की ओर उन्मुख किया जिससे उन्हें पुरुषों के विरुद्ध लड़ते की शक्ति आई। दूसरी ओर फ्रांसीसी क्रांति ने समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे का प्रसार विभिन्न देशों में किया, जो जिसके लोकतांत्रिक समाज के अंतर्गत सबको मताधिकार प्राप्त हुआ और आगे चलकर यह स्त्री-आंदोलन का प्रमुख अंग बना। क्रांति का यह दौर अमेरिका में भी देखा गया जहाँ मसी वारेन और एबिगेल एडम्स के मताधिकार की समानता के साथ सामाजिक समानता के लिए बात की उन्हें संवैधानिक अधिकार मिलें, लेकिन यह संभव नहीं हो सका।

स्त्री आंदोलनों में अहम भूमिका सन क्राफ्ट ने सन् 1792 ई. 'विन्डीकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ विमेन' स्त्रियों के अधिकार के लिए पुस्तक लिए जिसे स्त्री-अधिकारों की प्रथम पुस्तक कहा जाता है। यह पुस्तक पूरे विश्व में नारी-अस्मिता की क्रांति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला प्रथम ग्रंथ है। क्राफ्ट ने इस संदर्भ में नारीवादी आंदोलनों को प्रबल स्वर दिया, और समानता की बात करते हुए समान शिक्षा व अवसर प्रदान करने का प्रबल समर्थन किया, और कहा कि स्त्रियाँ बुद्धि के मामले में पुरुषों से अधिक आगे हैं, उन्हें केवल भोग-विलास की वस्तु न समझा जाए, स्त्री की स्वतंत्रता उसका अधिकार और वह बौद्धिक शिक्षा पाने की अधिकारिणी है। क्राफ्ट ने 'समान गुणवत्ता' को आधार बनाकर समान अधिकारों की वकालत कर पूरी दुनिया में नारीवादी आंदोलनों को वैचारिक आधार दिया। पेरिस की महान नारीवादी-चिंतक सीमोन-द-बोउवार ने तो स्त्री संबंधी परतों को खोलने के लिए महान कार्य किया। सीमोन-द-बोउवार ने 'द सेकेन्ड

सेक्स' लिखकर पूरी दुनिया में भूचाल ला दिया। 'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।' इस संदर्भ प्रभा खेतान ने हिन्दी रूपांतरण— स्त्री उपेक्षिता नाम से किया और इस संदर्भ में वह लिखती है। "स्त्री कहीं झुंड बनाकर नहीं रहती वह पूरी मानवता का आधा हिस्सा होते भी पूरी एक जाति नहीं गुलाम अपनी गुलामी से परिचित है, और एक काला आदमी अपनी रंग से, पर स्त्री घरों, अलग—अलग वर्गों एवं भिन्न—भिन्न जातियों में बिखरी हुई है। उसमें क्रांति की चेतना नहीं, क्योंकि अपनी स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। वह पुरुष की सह—अपराधिनी है। अंतः समाजवाद की स्थापना मात्र से स्त्री मुक्त नहीं हो जाएगी। समाजवाद भी पुरुष की सर्वोपरिता की ही विजय बन जाएगा।"¹⁵ पाश्चात्य देशों में शुभ चिंतकों का सम्पूर्ण चिंतन 'नारी केन्द्रित' रहा है, उन्होंने महिला तथा पुरुषों के समान अधिकार की बात की और महिलाओं को इस बात का आभास कराया की स्त्री चाहे गरीब हो अमीर हो, गोरी हो या काली हो उसे अपने हक के लिए आवाज स्वयं उठानी होगी, क्योंकि यह समाज पुरुष प्रधान है और यह दुनिया पुरुषों द्वारा बनाई गयी है। इसमें महिलाओं की कोई स्वीकृति नहीं है।

कई प्रकार के आंदोलनों और क्रांतियों में महिलाओं ने अपनी भागीदारी सिद्ध की और अपनी स्वतंत्रता का प्रयास किया परन्तु पुरुषों ने उन्हें उतनी ही स्वतंत्रता प्रदान की जितनी उनकी सुविधा हेतु उपयोगी रही है। इसमें फ्रांस की राज्य क्रांति

¹⁵ प्रभा खेतान, भूमिका से, स्त्री : उपेक्षिता, सीमोन—व—बोउवार, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, नवीन संस्करण, 2004, पृष्ठ 19

रही हो, या फिर विश्व युद्ध। इसलिए सिमोन का मुक्ति सन्देश उस आधी दुनिया के बारे में हैं जो स्त्री कहलाती है।

अरस्तू ने स्त्री की परिभाषा यह कहकर दी कि औरत कुछ गुणवताओं की कमियों के कारण ही औरत बनती है। हमें स्त्री के स्वभाव से यह समझना चाहिए कि प्राकृतिक रूप से उसमें कुछ कमियाँ हैं। वह एक प्रासंगिक जीव है। वह आदम की एक अतिरिक्त हड्डी से निर्मित है। अतः मानवता का स्वरूप पुरुष है और पुरुष औरत को औरत के लिए परिभाषित नहीं करता, बल्कि पुरुष से संबंधित ही परिभाषित करता है। वह औरत को स्वायत्त व्यक्ति नहीं मानता। यहाँ तक कहा जाता है कि औरत अपने बारे में नहीं सोच सकती और वही बन सकती है, जैसा पुरुष उसको आदेश देगा। इसका अर्थ यह है, कि वह अनिवार्यतः पुरुष के लिए भोग की एक वस्तु है और इसके अलावा कुछ भी नहीं। वह पुरुष के संदर्भ में ही परिभाषित और विभेदित की जाती है। वह आनुषांगिक है। अनिवार्य के बदले नैमित्तिक है, गौण है। पुरुष आत्म है, विषयी है। वह पूर्ण है, जबकि औरत बस 'अन्या' है।

पुरुषो ने सदेव महिलाओं को हीन दृष्टि से देखा है। और हमेशा महिलाओं की स्थिति का फायदा उठाया है और यह स्पष्टतः देखा जा सकता है की जो पुरुष स्त्री का अपमान या अनादर करता है, वो स्वयं भी मानसिक रूप से अपमानित होने से आशंकित रहता है। भारतीय समाज की यह विडम्बना रही है की पुरुषों को महिलाओं से जो सुविधायें मिली हैं, वो उनका कभी त्याग नहीं करता हैं बल्कि स्त्री को यथोचित सत्कार भी नहीं दे पाता हैं।

पुरुषों की नजरों में महिलाओं का अपना कोई अस्तित्व नहीं होता है। बल्कि पुरुषों के द्वारा बनाई गई कठपुतली की तरह कार्य करने वाली होती हैं। जो इस संसार में कई महत्वपूर्ण भूमिकायें निभा रही हैं।

यूरोप के अधिकांश देशों में स्त्री के मताधिकार दिलाने के कारण हुई थी 1838 में न्यूकैसल ने महिला राजनीतिक संघ की तरफ से अपने देशवासियों से संबोधन में कह गया— “हम आपसे आग्रह करते हैं, कि हमारे साथ जुड़े और हमारे पिताओं तथा पतियों की सहायता करें ताकि वे खुद को और हमें भी राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक गुलामी से आजाद कर सके... हमसे कहा गया है कि महिलाओं का क्षेत्र उनका घर ही है, और राजनीति का क्षेत्र पुरुषों के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए, हम इसे नकारते हैं...।”

उन विशेषताओं के बाद भी महिला आंदोलनों का स्तर उच्च रहा और अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे पारिवारिकता, व्यक्तिगत, योन संबंधों, आदि का राजनीतिकरण किया। इन विषयों पर विश्व के सभी देशों की महिलाओं का मत एकजुट रहा। और इन्होंने रंगभेद-मतभेद , भाषाई क्षेत्र , वर्ण भेद , नश्ल भेद आदि मुद्दों को भूलकर एक मंच सिस्टर दंड की भावना का संग्रह हुआ।

सन 1975 में मेक्सिको में राष्ट्र संघ ने महिलाओं का एक सम्मेलन आयोजित किया, जो विश्व स्तरीय था। जिसके परिणामस्वरूप 8 मार्च 1975 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने इस वर्ष को अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया गया। इन अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस का मुख्य उद्देश्य महिलाओं के सपनों, आंसुओं और

उनकी भावनात्मक विचारों से जुड़ा हुआ था। उस समय महिलायें अपने भावी जीवन में सामाजिक, राजनैतिक प्रगति के बीज बो रही थी।

2.5 नारीवाद

(क) उदारवादी नारीवाद

‘उदारवादी नारीवाद का बिज लोकतांत्रिक विचार पद्धति से अंकुरित हुआ। इसने पाश्चात्य दार्शनिक रूसो और जॉन लॉक जैसे दार्शनिकों के ‘वैयक्तिक स्वतंत्रता’ और सामाजिक परिवर्तनों की आलोचना के पश्चात। इन्होंने महिलाओं के अधिकार, स्वतंत्रता, अवसर और चयन की स्वतंत्रता प्रदान करने की बात कही। अनेक दार्शनिक जैसे बेला अल्बेक्स, बेट्टी फ्रीडेन आदि उदारवादी नारीवाद का समर्थन करने वाली रही।

सरला माहेश्वरी के शब्दों से, “उदारवादी नारीवादी ने भी परिवार में नारियों सवतंत्र्य और अधिकार चेतना का आधार शिक्षा को मानते हुए— “पुरुषों की पराधीनता से मुक्त और शिक्षित स्त्री, पुरुषों की भूमिका मात्र को ही दुर्भाग्यजनक नहीं जाना, उल्टे उन्होंने नारियों की शिक्षा आदि की तरह के तमाम प्रश्नों को परिवार में नारी की बेहतर भूमिका के साथ जोड़कर देखा।”¹⁶ मेरी वोलस्टनक्राफ्ट ने नारी स्वातंत्र्य और अधिकार चेतना का आधार शिक्षा को मानते हुए लिखा— “पुरुषों की पराधीनता से मुक्त और शिक्षित स्त्री, पुरुषों की भूमिका को तो अनधिकृत रूप से गृहण नहीं कर सकती, लेकिन संपूर्ण समाज के हित में स्वतंत्र

¹⁶ नारी प्रश्न, सरला माहेश्वरी, पृष्ठ 44

और नैतिक रूप से परिवार का संचालन कर सकती है।" उदारवादियों ने नारी के लिए संघर्ष में अधिकारों की प्राप्ति, समानता, अभिव्यक्ति की आजादी, चयन की समानता जैसे मुद्दे हावी रहें।

(ख) मार्क्सवादी नारीवाद

एंगिल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' 1884 में वामपंथी विचारधारा का प्रतिपादन किया जहाँ उन्होंने माना "आधुनिक वैयक्तिक परिवार, नारी की प्रत्यक्ष या परोक्ष घरेलू दासता पर आधारित है। स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करें।" गोल्डमान, बेस्टन, रीड आदि ने माँग की कि स्त्री मुक्ति के लिए अनिवार्य है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाए।

(ग) रेडिकल नारीवाद

'उग्र नारीवाद का सूरज सन् 1960-70 के दशक में उदारवादी नारीवाद के खिलाफ और लिंगभेद के खिलाफ आक्रोश के रूप में व्यक्त हुआ। अभी तक उदारनारीवादी तथा समाजवादियों ने परिवार का अर्थ और नारी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। लेकिन तात्कालिक समय के दार्शनिक क्रेट मिलेट, फायस्टोन आदि ने महिलाओं के उत्पीड़न का मुख्य कारण योन परवर्तियों को बताया। जहाँ महिलाओं पर जीव विभिन्नताओं के कारण पुरुषों का वर्चस्व आसानी से स्थापित हो जाता है।

संदर्भ

1. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा और दिशा, पृष्ठ 6
2. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा और दिशा, पृष्ठ 6
3. आशारानी व्होरा, नारी शोषण : आईने और आयाम, पृष्ठ 249
4. सबला, अक्टूबर—नवंबर, 1997, पृष्ठ 11
5. मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 63
6. आशारानी व्होरा, नारी विद्रोह के भारतीय मंच, पृष्ठ 40
7. नीरा देसाई, भारतीय समाज में नारी, पृष्ठ 42
8. टुवार्ड्स इक्वैलिटी, पृष्ठ 42
9. ऐनी बेसेन्ट, वेक अप इंडिया, पृष्ठ 40
10. मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 71
11. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास, पृष्ठ 26—28
12. मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता, पृष्ठ 65
13. कनक मुखर्जी, वूमेंस इमेलियेशन मूवमेंट इन इंडिया, पृष्ठ 54
14. सुभाषिणी पालीवाल, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता, पृष्ठ 60—62

15. प्रभा खेतान, भूमिका से, स्त्री : उपेक्षिता, सीमोन-व-बोउवार, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, नवीन संस्करण, 2004, पृष्ठ 19
16. नारी प्रश्न, सरला माहेश्वरी, पृष्ठ 44

तृतीय अध्याय

स्त्री-प्रश्न और हिन्दी के प्रमुख नाटक

स्त्री-प्रश्न से तात्पर्य

महिलाओं और बालिकाओं का जीवन के स्तर, उनके जीवन जीने के सपने और आकांक्षाएँ, स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा, उनको समाज में उचित स्थान मिले, और नारी जीवन की अन्य समस्याएं। इनके साथ-साथ महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में बराबर की भागीदारी सुनिश्चित हो। समाज और देश निर्माण में उनकी बराबरी की भूमिका सुनिश्चित हो। महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों के प्रति जवाब सुनिश्चित करने हो। आदि प्रश्नों के समुच्चय को ही स्त्री-प्रश्न के अंतर्गत रखा जाता है। स्त्री-विमर्श इन्हीं प्रश्नों को लेकर है की महिलाओं की स्थिति और उनके अधिकारों के बारे में चर्चा सुनिश्चित हो। देश विदेश में स्त्री आंदोलनों को इसी से जोड़कर देखा जा सकता है। इन आंदोलनों का मुख्य संदेश ये भी हो सकता है की जो स्त्री नहीं हैं, वो स्त्रियों के दर्द को कैसे समझ सकता है? सहानुभूति बनाम स्वानुभूति का प्रश्न ऐसे प्रश्न हैं जिससे हर विमर्श जैसे- दलित विमर्श, आदिवासी अस्मिता विमर्श आदि टकराता है। तो क्या यह मान लिया जाए कि पुरुष स्त्री की पीड़ा का सहभागी नहीं। सवर्ण दलित के दर्द को नहीं समझ सकता। इस बात पर विवाद है लेकिन विवाद में न पड़कर इसे इस रूप में भी लिया जा सकता है कि सहानुभूति भी एक मानवीय मूल्य है जिससे जनतंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं। लोकतंत्र में जब सब एक साथ मिलकर

एक-दूसरे के बारे में नहीं सोचेंगे तो हमारे लोकतंत्र के सुदृढीकरण में बाधा आयेगी। इसके साथ ही देश की सांस्कृतिक एकता भी खंडित हो जायेगी जो कि संविधान की आत्मा है। भारत में ऐसे कई महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने महिला अस्मिता और महिलाओं की बिगड़ी हुई दशा पर अनेक प्रकार के जागरूक आन्दोलन और ज्ञान के संदेश देकर महिलाओं की प्रतिष्ठा को सुनिश्चित किया है। भारतीय समाज में अगर महिलाओं की स्थिति में सुधार होगा तब ही भारतीय समाज में विकास होगा। हिंदी नाटकों के इतिहास को हम देखने का प्रयास करें तो कई साहित्यकारों ने स्त्री सशक्तिकरण पर बल दिया है और अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री अस्मिता और प्रतिष्ठा के लिए आवाज उठाई। हमारे भारतीय वाङ्मय में ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने स्त्री-शक्ति को पहचानकर उसकी महत्ता को प्रतिष्ठित किया। अगर हमारे समाज में स्त्री पिछड़ती है तो समाज पिछड़ जायेगा। हिन्दी नाटकों के इतिहास में झाँकने से यह पता चलता है कि कितने ऐसे नाटककार हुए जिन्होंने स्त्री-सशक्तीकरण पर बल दिया। ऐसे में भारतेन्दु युग से लेकर मैंने समकालीन स्त्री-नाटक लेखन की संक्षिप्त जानकारी एकत्रित करने का प्रयास भर किया है।¹ अगर अधिक गहराई में जाये तो यह एक अलग शोध का विषय हो जायेगा। इसलिए इसमें न उलझकर स्त्री-विमर्श से संबंधित वैसे नाटकों को जिनमें स्त्री-प्रश्न प्रमुखता से उभरे हैं उनका संक्षिप्त परिचय देकर तथ्यपरक सामग्री देने का प्रयत्न भर है। यहाँ इस बहस में भी उलझने की कोशिश नहीं है कि

¹ हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय सं. 2002, पृष्ठ 246

रचनाकारस्त्री है या पुरुष। रचना प्रमुख है न कि रचनाकार। रचना के भीतर का अर्थ आवश्यक है जिससे उसके मर्म तक पहुँचने की कोशिश की गई है। सुविधानुसार उन्हें युग विशेष में बाँटकर प्रमुख किन्तु महत्वपूर्ण नाटकों की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण किया गया है।

3.1 भारतेन्दु युग के नाटक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले हिंदी नाटक में पाश्चात्य तथा संस्कृत नाटक की परम्परा का अनुकरण किया, तथा अनेकों ऐतिहासिक स्वरूपों में नाटकों की रचना की। क्योंकि उनका यह स्पष्ट मानना था कि भारतीय तथा पश्चिमी नाटकों के समन्वय से ही नए नाटकों का सर्जन किया जा सकता है। भारतेन्दु केवल शास्त्र-प्रणेता ही नहीं, रचनाधार्मिता से सम्पन्न कलाकार थे। इसीलिए उन्होंने अपने समन्वयशील नाट्य-दर्शन को लेकर अनेक नाट्य-रूपों की रचना की थी। उन्होंने कई नाटकों के प्रदर्शन में भी रुचि ली। अनेक नाटकों के निर्देशन के साथ-साथ कई बार वे रंगमंच पर अभिनेता के रूप में अवतरित हुए थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत हीचलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया। और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गए।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने बड़ा काम यह किया कि साहित्य का मार्ग प्रशस्त कर उसे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। इस नई शिक्षा के परिणामस्वरूप लोगों की भावनाओं तथा विचारधाराओं में बदलाव हुआ। तथा भारतेन्दु जी ने साहित्य को एक नई दिशा प्रदान करने का प्रयास किया है। उनके मन में देशहित, समाजहित, जनहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हुए।

आचार्य शुक्ल आगे लिखते हैं— “विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तननाटकों से हुआ। भारतेन्दु के पहले ‘नाटक’ के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के ‘आनंद रघुनंदन नाटक’ को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले ‘विद्यासुन्दर नाटक’ का बांग्ला से सुंदर हिन्दी में अनुवाद करके संवत् 1925 में प्रकाशित किया। उसके पहले वे ‘प्रवास नाटक’ लिख रहे थे, पर वह पूरा न हुआ। उन्होंने आगे चलकर भी अधिकतर नाटक ही लिखे।”²

गद्य रचनाओं में भारतेन्दु जी का ध्यान सर्वप्रथम नाटक विधा की तरफ ही गया। अपने नाटक (सन् 1883) नाम की पुस्तक में आपने लिखा है कि हिन्दी में

² वही, पृष्ठ 248

मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे— महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंदरघुनंदन' नाटक और बाबू गोपालचंद्र का 'नहुष' नाटक। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेन्दु द्वारा लिखे गए नाटक निम्नलिखित हैं—

मौलिक

- वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति— 1873 ई.
- चंद्रावली— 1876 ई. विषस्य विषमौषधम्— 1876 ई.
- भारत दुर्दशा— 1880 ई.
- नीलदेवी— 1881 ई.
- अंधेर नगरी— 1881 ई.
- प्रेमयोगिनी— 1875 ई.
- सतीप्रताप (अपूर्ण)— 1883 ई.

अनूदित

- विद्यासुंदर — 1868 ई. पाखंडविडम्बन—1872 ई.
- धनंजयविजय—1873 ई.

- कर्पूरमंजरी—1875 ई.
- मुद्राराक्षस—1878 ई.
- सत्यहरिश्चंद्र — 1875 ई.
- भारतजननी—1877 ई. हरिश्चन्द्र

के जीवन काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासामंडल ओर तैयार हो गया था जिसे 'भारतेन्दु मंडल' के नाम से जाना जाता है। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्री निवास दास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी आदि इनकी मंडली के सदस्य थे।

भारतेन्दु स्त्री-शिक्षा के बड़े पक्षधर थे। सन् 1874 में इन्होंने महिलाओं की शिक्षा के लिए 'बालबोधिनी' नामक पत्रिका निकाली। तथा इसी इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए नाटक 'नीलदेवी' जो कि स्त्री-विमर्श का सशक्त नाटक माना जाता है। इसी तरह राधाकृष्ण दास ने 'दुःखिनी बाला' नामक एक छोटा-सा रूपक (नाटक) लिखा।

राधाकृष्ण दास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे और वे भीनारी-शिक्षा के समर्थक विद्वान माने जाते थे।

भारतेन्दु ने मुस्लिम शासन और महिलाओं कि साहसिकता को आधारनाकर किसी विशेष नाटक की रचना नहीं की,ना ही स्त्री के वीरत्व का कोई आधार लिया। भारतेन्दु जी के नाटकों में इन दोनों बातों कि पूर्ति करता हैउनका 'नीलदेवी' नाटक जो कि एक गीतिरूपक रचना है जो सन् 1881 ई. में प्रकाशित हुई। नाटक का आरंभ दुर्गापाठ से होता है। फिर समर्पण है जो कि उनके स्त्री संबंधी विचार को प्रस्तुत करता है—

“मातृ—भगिनी—सखी—तुल्या आर्य ललनागण को।”

समर्पण के साथ ही हरिश्चन्द्र अपना उद्देश्य इस प्रकार प्रकट करते हैं—
“जिस भाँति अंग्रेज स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी—लिखी होती हैं, घर का काम—काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति—विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, उसी भाँति हमारी गृह—देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति—पथ का अवरोध हम लोगों की वर्तमान कुल—परंपरा मात्र है और कुछ नहीं है।”³

नाटक के आरंभ में 'दुर्गापाठ' प्रतीक के रूप में है जिससे यह लक्षित होता है कि औरत को अत्यधिक प्रताड़ित करने पर वह चंडी का भी रूप धारण करने में देर नहीं लगाती। नीलदेवी महाराजा सूर्यदेव की पत्नी और सोमदेव की माता है, जो अपने पति सूर्यदेव के मुगलों के द्वारा मारे जाने पर क्रांतिकारी रूप धारण कर लेती

³ भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग—1, नागरी प्रचारिसणी सभा, काशी संवत् 2007 (सन् 1950 ई.), पृष्ठ 519

है। नाटक की शुरुआत में यह दिखाया गया है कि नीलदेवी ने राजा सूर्यदेव से अधर्म युद्ध में तत्पर मुसलमानों के प्रति सावधान रहने को कहा। राजा को यह विश्वास था कि मुगलों को युद्ध में वे अवश्य हरा देंगे, किन्तु रानी की आशंका पर ध्यान न देकर वे भारी गलती कर बैठे। राजा की यह धारणा थी कि मुगल रात्रि के समय सुप्तावस्था में आक्रमण नहीं करेंगे, लेकिन उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत थी। मुगलों ने उन्हें बन्दी बनाकर वध कर डाला। अब रानी के सामने यक्ष-प्रश्न आ खड़ा हुआ। उसके सामने तीन रास्ते थे— पहला यह कि अबोध-अबला प्रजा को मुगलों की नृशंसता और स्वेच्छाचारिता का शिकार बनने के लिए छोड़कर स्वयं जौहर कर लेती, दूसरे-अस्त्र-शस्त्र लेकर अल्पसंख्यक राजपूतों के साथ युद्ध क्षेत्र में मर मिटती, तीसरे उस कला के द्वारा जिसमें वह अत्यंत प्रवीण थी, अन्यायी शत्रुओं को मुग्ध बनाकर अधर्म-युद्ध का बदला लेती। जाहिर है भारतीय नारी की वीरता का प्रतीक बनकर उभरी नीलदेवी ने कलाविद् नर्तकी-गायिका बनकर बदला लेने का रास्ता चुना। मुगल शासक अमीर अब्दुल शरीफ द्वारा नाम पूछे जाने पर वह अपना नाम चंडिका बताती है—

अमीर : तुम्हारा नाम क्या है?

गायिका : मेरा नाम चंडिका है। बड़ी दूर से आपका नाम सुनकर आयी हूँ।

अमीर : बहुत अच्छी बात है। जल्द गाना शुरू करो। तुम्हारा गाना सुनने को मेरा एशियाक हर लहजे बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा।

गायिका : जो हुक्म⁴ गायिका गाती है; दरबारी प्रसन्न होते हैं। अमीर गायिका को मद्यपान के लिए बार-बार विवश करता है, किन्तु वह अस्वीकार करती जाती है। जब अमीर शराब का प्याला खुद उठाकर रानी को पीने के लिए बाध्य करता हुआ स्पर्श करना चाहता है और 'लो जान' कहता है तभी रानी नीलदेवी प्रहार करने को विवश हो जाती है।

नीलदेवी—“ले चांडालपापी! मुझको जान कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले। मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चांडाल का अपने हाथ से वध करूँ। अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी।”⁵

ज्यों ही मुगल अमीर रानी को मदिरा देने के लिए निकट पहुँचता है त्यों ही रानी चंडी के समान उसका खून पी लेती है। वैसे तो इस नाटक में रानी नीलदेवी का उद्देश्य, अपनी जाति स्वतंत्रता की रक्षा व अपने पति का बदला लेना। नीलदेवी के कथ्य में मुगल अमीर एक मुसलमान शासक के रूप में नहीं बल्कि वर्ग-विशेष के प्रतीकार्थ के रूप में उभरा है। यदि वह अपनी प्रजा को अपमानित करता है। प्रजा पर थूकता है, उसका शोषण करता है, अमानवीय अत्याचार करता है तो वह संघर्ष राजा व प्रजा के बीच का है, हिन्दू व मुस्लिम के बीच का नहीं। जहाँ प्रश्न किसी जाति विशेष का नहीं रह कर वर्ग-विशेष से आ जुड़ जाता है।

मुगलों के आतंक अपने कथ्य का आधार बनाकर नाटककार ने वस्तुतः अंग्रेजों से भारत को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष किया था, ब्रिटिश अंग्रेजी शासन

⁴ वही, पृष्ठ 543

⁵ वही, पृष्ठ 545

का भाव ही उनकी देश-प्रेम की भावना का मूलमंत्र है। “यों भी भारतीय परंपरा में नारी जाति काफी उपेक्षित रही है और राष्ट्रीय चिंताधारा में उसका योगदान नगण्य मात्र ही माना जाता रहा है।

जागरूक भारतेन्दु को यह बात काफी खली है और ‘नीलदेवी’ उसी के अभावकी पूर्ति का मिथकीय प्रयास है। नाटक के श्रीगणेश में ‘दुर्गापाठ’ की स्तुति अपनी सांकेतिकता में नारी के क्रांतिकारी रूप का मिथकीय स्वप्न है और यदि सृजन के स्तर पर खोजा जाए तो दसवें दृश्य में नीलदेवी अमीर से प्रतिकार लेने के लिए नर्तकी बन जाती है तो अपना नाम चंडिका बताती है। भारतेन्दु को राष्ट्रीय-मुक्ति के स्वप्न में नारी का संभवतः यही रूप पसंद था क्योंकि सशस्त्र क्रांति का स्वप्न देखने वाला नीलदेवी को दुर्गा अथवा चंडी के अतिरिक्त सोच भी क्या सकता है।”⁶

निष्कर्ष रूप में इस नाटक के पात्र, कथानक और वातावरण की दृष्टि से ऐतिहासिक होने पर भी नाटककार का मूल संदेश नारी सम्प्रेषण और नारी जागरण है जिसके बिना राष्ट्र की उन्नति कि कल्पना भी संभव नहीं है।

भारतेन्दु मंडल के रचनाकारों ने भी बहुत-से नाटक लिखे लेकिन उन्हें पर्याप्त यश और ख्याति नहीं मिली। फिर भी साहित्यिक दृष्टि से उनके नाटकों का अपना महत्व है। ‘स्त्री’ को केन्द्र में रखकर लिखे गए नाटकों की संख्या नगण्य थी।

⁶ हिन्दी नाटक : नई परख, संपा. गौतम, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 16

लाला श्री निवास दास ने प्रह्लाद चरित, तप्तासंवरण, रणधीर—प्रेममोहिनी और संयोगिता—स्वयंवर नाटकों की रचना की। प्रताप नारायण मिश्र ने भारत दुर्दशा, कलिकौतुक, गोसंकट, कलि प्रभाव आदि नाटकों की रचना की।

हिन्दी में तात्कालीन समय तक नारी समस्या के आधार पर कथावस्तु प्रस्तुत करने वाले नाटककारों की संख्या नगण्य थी। मिश्र जी इस समस्या से भली—भांति परिचित थे। अतः उन्होंने 'कलिकौतुक' नाटक के माध्यम से पतिव्रता हिन्दू नारीकी निराशाजनक दशा का चित्रण किया जो अपने वेश्यागामी पति के हाथों अनेक प्रकार की पीड़ाओं को सहन करते हुए भी उसके मंगल की कामना करती है।

इसी तरह राधा कृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' नामक नाटक की रचना करके उस समय कि शून्यता को भरने का प्रयास किया। इनके 'महारानी पद्मावती' 'महाराणा प्रतापसिंह' काफी प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं। 'दुःखिनी बाला' में इन्होंने एक हिन्दू विधवा की दुःख भरी कहानी को नाटक के रूप में दिखाया।

भारतेन्दु मंडल के प्रख्यात लेखक बालकृष्ण भट्ट किसी परिचय के मोहताज नहीं। एक निबंधकार के रूप में इन्हें जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वह दूसरी विधा में नहीं। भट्ट जी के निबंध जितने पांडित्यपूर्ण और गंभीर हैं, उतने ही इनके नाटक ऐतिहासिक कलेवर में सरस और हास्यरस—संयुक्त हैं। इन्होंने माइकल मधुसूदन दत्त के दो बांग्ला नाटकों पद्मावती और शर्मिष्ठा का हिन्दी अनुवाद किया। इनके मौलिक नाटकों में दमयंती स्वयंवर, वेणु—संहार, जैसा काम वैसा परिणाम अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

इसी प्रकार इसी मंडल के लेखक राधाचरण गोस्वामी के आठ नाटकों का उल्लेख मिलता है जिनमें सती चंद्रावली, अमर सिंह राठौर, श्रीदामा बड़े नाटक हैं। तीन छोटे प्रहसन हैं— बूढ़े मुंह मुंहासे, तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण और भंग—तरंग।

सती चंद्रावली में नारी के सती रूप का वर्णन है। इस ऐतिहासिक नाटक में एक वीर नारी का चरित्र दिखाया गया है, जो राज—सुख त्यागकर अपने धर्म पर आरुढ़ रहती है और धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करते हुए शरीर त्याग देती है।

कुल मिलाकर भारतेन्दु युग में नाटककारों ने विधवा विवाह, बाल—विवाह, सती—प्रथा आदि प्रकार की समस्याओं पर नाटकों की रचना की गई जो आगे चलकर नारी—शिक्षा और नारी उन्नति के साथ—साथ नारीवादी आंदोलनों का आधार बनी।

3.2 प्रसाद युग के नाटक

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के दिवंगत होने के तीन वर्ष बाद जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी के एक प्रसिद्ध घराने में हुआ। प्रसाद के बाल्यकाल में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का यश देशव्यापी बन गया था। काशी में तो विशेषकर भारतेन्दु एवं उनके मंडली के साहित्यकारों की चर्चा घर—घर होने लगी थी। अतएव यह स्वाभाविक था कि बालक जयशंकर प्रसाद पर भी उनका प्रभाव पड़ा। प्रसाद भारतेन्दु से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने प्रारंभ में भारतेन्दु हरिश्चंद्र के नाटकों को अपना आदर्श माना।

प्रसाद का पहला नाटक 'राज्यश्री' 1915 में प्रकाशित हुआ। उनकी मृत्यु 1937 ई. में हुई। इस प्रकार 1915 से 1937 ई. तक के बीच की अवधि को प्रसाद-युग कहा जा सकता है। इस कालावधि में हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' छाये हुए थे। इसलिए अन्य नाटककारों को उभरने का अवसर नहीं मिल पाया।⁷

प्रसाद उदात्त राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्यों के नाटककार हैं, उन्होंने अपने नाट्य साहित्य के माध्यम से सामसामयिक राष्ट्रीय चेतना, संघर्ष और प्रश्नों को उठाया।

उनके नाटकों में जहाँ एक तरफ स्वतंत्रता प्राप्ति की जद्दोजहद है, वहीं दूसरी तरफ मनुष्य का आंतरिक कलह और संघर्ष दिखता है। उनके नाटकों का मूल भाव सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और विश्वव्यापी मानवीय मूल्यों की पुनः स्थापना करना है। साथ ही नारी जाति के पुनरुत्थान का विचार भी उनकी रचनाओं के केन्द्र में रहा है। सामान्यतः प्रसाद जी का संपूर्ण साहित्य महिलाओं की खोई हुई अस्मिता, पहचान और उनकी गौरवमयीप्रतिष्ठा को पुनः प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास प्रयास है। स्त्री और पुरुष की समानता को सुनिश्चित करने हेतु अपनी विशेष समन्वयवादी नाट्यशैली में स्त्री कीआकांक्षाओं को पुरुष की इच्छा से बड़ा बनाकर ऐतिहासिक अंतर को समाप्त करने का प्रयास किया। प्रसाद ने नारी-शोषण के कारणों की जड़ों में जाकर नारी के महत्व को स्थापित किया है। चाहे वह देवसेना, चंपा, ध्रुवस्वामिनी आदि ही क्यों न हो।

⁷ रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1992, पृष्ठ 260

“प्रसाद की अपनी यह विशेषता है कि वह नारी-स्वातंत्र्य पर व्याख्यान नहीं देते और न ही किसी ऐसी घटना का सृजन करते हैं जिससे ऐसा लगे कि स्त्री अपने काम यन्त्र बनाए जाने के विरुद्ध कोई मैदानी जंग लड़ रही है। अपितु प्रसाद तो स्त्री की आंतरिक संरचना संबंधी बोध और व्यवहार संबंध को ही बदल देते हैं। इस रूप में प्रसाद नारी की उल्लेखनीय भूमिका का विस्तार करते हुए उसको सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय चेतना से संबद्ध करते हैं।”⁸

प्रसाद के प्रसिद्ध नाटकों में अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), स्कंदगुप्त (1928), चन्द्रगुप्त (1931), ध्रुवस्वामिनी (1933) हैं। ये सभी नाटक भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण हैं। हालाँकि इनके नाटकों की रंगमंचीयता पर सवाल उठते रहे हैं⁹ लेकिन इनका अंतिम नाटक श्रुवस्वामिनी संभवतः सबसे ज्यादा प्रदर्शित और प्रशंसित नाटक है। इतना ही नहीं इस नाटक को स्त्री-विमर्श की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण नाटक माना गया है। डॉ. दशरथ ओझा के अनुसार—

“भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न है। इसकी भाषा परिमार्जित होते हुए भी बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। उपर्युक्त गुणों के कारण यह नाटक प्रसाद के अन्य नाटकों की अपेक्षा अभिनेय मानी जाती है।”⁹

⁸ हिन्दी नाटक : नई परख, संपा. रमेश गौतम, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 136

⁹ डॉ. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल प्रकाशन, संस्करण 2008, पृष्ठ 219

नाटक के पहले अंक में ध्रुवस्वामिनी की स्त्री-विमर्शकारी दृष्टि उभरकर सामने आती है— जिसमें वह स्त्रियों के ऊपर अत्याचार का प्रतिरोध करते हुए रामगुप्त से कहती है—

ध्रुवस्वामिनी— कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, तो मुझे बेच भी नहीं सकते। हाँ, तुम लोगों को आपत्ति से बचाने के लिए मैं स्वयं यहाँ से चली जाऊँगी।¹⁰

यह नाटक राजनैतिक-सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था के भ्रष्ट मूल्यों को नकारता हुआ नारी के माध्यम से राष्ट्रीय अस्मिता का प्रश्न उठाता है, वह किसी काल या स्थान तक सीमित नहीं रहता।

वीरेन्द्र नारायण के शब्दों में—

“ध्रुवस्वामिनी नाटककार प्रसाद की नाट्यकला का पहला परिच्छेद है। दुर्भाग्यवश नियति ने इसे अंतिम भी बना दिया वरना यह नाटक वह पृष्ठभूमि तैयार करता है जिसके आधार पर यथार्थवादी शैली के अच्छे और प्रौढ़ नाटकों की कल्पना की जा सकती थी। प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी आने वाले हिन्दी नाटकों का मार्गदर्शक बनकर आईं इन कारणों से प्रसाद की रचनाओं में और हिन्दी नाटक में ध्रुवस्वामिनी का विशेष स्थान है। अपने आप में कलात्मक कृति की हैसियत से तो

¹⁰ ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृष्ठ 30

इसका मूल्य है ही, भविष्य की ओर संकेत और नाटककार की विकसित प्रतिभा का द्योतक भी है।¹¹

सरांशतः ध्रुवस्वामिनी प्रसाद और हिन्दी साहित्य के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच का सर्वाधिक लोकप्रिय, चर्चित, और सर्वाधिक मंचित नाटक है। यह स्त्री-विमर्श का प्रतिनिधि रंग-नाटक है जो बार-बार रंगमंच करने वालों को नई खोज करने के लिए प्रेरित करता है।

इस युग (प्रसाद युग) के लेखकों में विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्द वल्लभ पंत, सुदर्शन, दुर्गाप्रसाद गुप्त, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बद्रीनाथ भट्ट का दुर्गावती (1925), दुर्गाप्रसाद गुप्त का गौतम-अहिल्या (1921), लक्ष्मी नारायण मिश्र का सिन्दूर की होली (1934), उदयशंकर भट्ट का विद्रोहिणी अम्बा (1935), कमला (1935) आदि नाटक ऐतिहासिक और स्त्रियों की सामाजिक समस्याओं आदि की ओर सहृदय का ध्यान आकृष्ट करते हैं। इसी प्रकार हरिकृष्ण प्रेमी अपनी प्रखर राष्ट्रीय चेतना-युक्त ऐतिहासिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं। रक्षाबंधन (1934 ई.) इसी प्रकार का नाटक है जिसमें इतिहास के साथ-साथ स्त्री-मर्यादा और राष्ट्र मर्यादा की चर्चा है। ये सभी नाटक रंगमंचीय धरातल पर सफल भी रहे हैं।

¹¹ वीरेन्द्र नारायण, वीरेन्द्र नारायण ग्रंथावली, भाग 2, संपादक- मंगलमूर्ति, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ 355

‘सिन्दूर की होली’ में बाल-विधवा मनोरमा, विधवा-विवाह और महिला आंदोलनों को पुरुष उद्धार कहकर व्यंग्य और विश्वास के अनुपम अवसर को सम्पूर्ण नाटक में प्रस्तुत करती चली गई है। पति के देवलोकगमन होने के बाद भी उसके नाम के सहारे जीवन यापन करती रही और जब किसी पुरुष ने उसके विधवापन ओर उसकी दयनीय स्थिति के प्रति सहानुभूतिप्रकट करने की कोशिश कि तो वो उसके सामने से इस प्रकार भाग निकलती है जिस प्रकार कसाई के आगे से गाय भाग निकलती है।

मुरारीलाल से उसका यह कहना कि “पुरुष तो वैधव्य का अनुभव कभी नहीं करते, इसलिए यह बात स्त्री ही कह भी सकेगी”— इसका प्रमाण है। स्त्री-विमर्श के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यहाँ स्वानुभूति बनाम सहानुभूति का प्रश्न स्पष्ट दिखाई देता है। पुरुष द्वारा वैधव्य का अनुभव न करना स्त्री द्वारा भोगे गये दुरुख का ही परिचायक है।

3.3 प्रसादोत्तर नाटक

प्रसाद जी के युग के बाद में पौराणिक, आधुनिक भाव बोध तथा एतिहासिक बोध के नाटकों की परंपरा चली और अत्याधिक मात्रा में ऐसे नाटक लिखे और पढ़े गए और इनका प्रदर्शन भी हुआ। लेकिन स्त्री-विमर्श से जुड़े हुए नाम मात्र के नाटकों कि रचना हुई जिनको उंगली पर गिनाजा सकता हैं। इस समय के दौरान बमुश्किल ही कोई महिला नाटककार सामनेआती है। फिर भी प्रसादोत्तर नाटकों की परंपरा में समस्या-नाटकों के रूप में, महिला-पुरुष के संबंधों को आधार बनाकर

बहुत नाटक लिखे और प्रदर्शित किये गए। जिनके संक्षिप्त विकासक्रम आगे दिया जा रहा है।

पौराणिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के अम्बा (1935), मत्स्यगंधा (1937), विश्वामित्र (1938), राधा (1941), अशोकवन वन्दिनी (1959), असुर सुन्दरी (1972) आदि, सेठ गोविन्द दास का कर्ण (1946), आचार्य चतुरसेन शास्त्री का मेघनाद (1936), श्रीमती तारा मिश्र का देवयानी (1944), श्री गोविंद वल्लभ पंत का ययाति (1951), लक्ष्मीनारायण मिश्र के नारद की वीणा (1946), चक्रव्यूह (1954) आदि उल्लेखनीय हैं।

पौराणिक नाटकों के प्रमुख लेखक उदयशंकर भट्ट माने जाते हैं। भट्ट जी पौराणिक आख्यानों को बड़ी ही कुशलता के साथ आधुनिक समस्याओं से जोड़कर बड़ी ही कुशलता से चित्रण किया। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पौराणिक प्राचीन कथा-तत्वों को आधुनिक बुद्धि से जोड़कर तर्क-पद्धति के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं उन्होंने पौराणिक चरित्रों के परंपरागत स्वरूप में भी अनुकूल परिवर्तन किये हैं। वस्तुतः इन नाटककारों का रचनात्मक दृष्टिकोण आधुनिकता के वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रभाव से प्रभावित रहा है। इसलिए ये साहित्यकार पुराणोंकी कथा को नवीन स्वरूप और गरिमा प्रदान करने में सफल रहे हैं।

उदयशंकर भट्ट के नाटक 'अम्बा' में वर्तमान नारी जागरण का चित्र पौराणिक आख्यान के माध्यम से प्रस्तुत करते हुए नवीन विचारों का प्रतिपादन किया

गया है। श्रीमद्भागवत से ली गई इस नाटक की कथा में वृद्ध-विवाह और पुरुष अहमन्यता के कारण कन्याहरण की अन्यायपूर्ण घटनाओं के संदर्भ में भट्ट जी ने युगों-युगों से चली आ रही नारी की अवश पराधीनता तथा अनमेल विवाह की विषमता की समस्या को चित्रित किया गया है तथा समाज को जागृत करने का प्रयास किया गया है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार— “अम्बा में चिरन्तन नारीत्व की समस्या अत्यन्त तीखे रूप में हमारे सामने आती है।”¹²

‘अम्बा’ में पुरुष प्रधान समाज की अधिकार-भावना के प्रति परंपरागत रूप से दबी हुई नारी का चिरसंचित विद्रोह का भाव अत्यधिक बलवान हो गया है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों के संदर्भ में स्त्री-जाति की निर्बलता के कारण अहंकारी एवं दंभग्रस्त पुरुष ने हमेशा से उसका शोषण किया है। पुरुष समाज द्वारा अपमानित नारी केवल उपभोग की वस्तु नहीं है। वह भी इंसान है। उसे भी बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। नाटक शम्बाश का यह कथन द्रष्टव्य है—

विदूषक : स्त्रियों का मान-अपमान ही क्या? अहह अंकशायिनी का मान ही क्या और अपमान ही क्या है?

अम्बा : (क्रोधित होकर)—पुरुष समाज की इतनी धृष्टता। स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष जाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अपमान किया है। मैं अबला हूँ, अकिंचन हूँ, अंकशायिनी हूँ। मेरी बिसात ही क्या? पुरुष की आँखों के इशारों पर नाचने वाली दीन स्त्री की शक्ति ही क्या? विश्वनायक, तुम

¹² डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ 12

देख रहे हो। तुम भी क्या देखोगे। पुरुष रूप में रहने वाले परस्पर तुम्हें मेरी क्या परवा, तुम भी क्या देखोगे। पुरुष रूप में रहने वाल परस्पर तुम्हें मेरी क्या परवा, तुम देखोगे इस स्त्री जाति के अपमान से ही तुम लोगों का नहीं समूचे भारत का नाश होगा।¹³

अम्बा के इन विचारों में पुरुष समाज के विरुद्ध भयंकर क्रांति की चिनगारियाँ उठ रही हैं। अपने अपमान के कारण अम्बा भीष्म से प्रतिशोध लेने के लिये अपने शरीर का परित्याग कर अगले जन्म में शिखंडी के रूप में जन्म लेकर महाभारत के युद्ध में भीष्म पितामह की मृत्यु का कारण बनती है।

‘अम्बा’ के माध्यम से नाटककार ने नारी स्वतंत्रता का उद्घोष किया है। वह पुरुष समाज द्वारा पीड़ित अपने अधिकारों के लिए जागृत नारी का प्रतिनिधित्व करती है। अतः ‘अम्बा’ में उदयशंकर भट्ट जी ने परंपरा से चली आ रही नारी जाति को शोषण के विरुद्ध जागरण का संदेश दिया है।¹⁴

ऐतिहासिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के विक्रमादित्य (1993), मुक्ति पथ (1944), शक विजय (1949), इत्यादि, द्वारिका प्रसाद मौर्य का शहैदर अली (1934), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का अशोक (1935), गोविन्द वल्लभ पंत के

राजमुकुट (1935), तुलसीदास (1974), उपेन्द्रनाथ ‘अशक’ का जयपराजय (1937), हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षाबंधन (1934), शिवा—साधना (1937), प्रतिशोध (1937),

¹³ अम्बा, उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ 80—81

¹⁴ हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, रमेश गौतम; अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली—32, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 326

स्वप्न भंग (1940), आहुति (1940), शतरंज के खिलाड़ी (1955), विदा (1958), रक्तदान (1962) आदि, सेठ गोविन्ददास के हर्ष (1935), कुलीनता (1940), लक्ष्मीनारायण मिश्र के अशोक (1926), वत्सराज (1950), वितस्ता की लहरें (1953), गंगाद्वार (1974) आदि, वृन्दावनलाल वर्मा के झाँसी की रानी (1948), बीरबल (1950), पूर्व की ओर (1950) इत्यादि, जगदीशचन्द्र माथुर का कोणार्क (1951), डॉ. राम कुमार वर्मा का कौमुदी महोत्सव (1954) आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रसादोत्तर ऐतिहासिक नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा, राम कुमार वर्मा तथा जगदीशचन्द्र माथुर प्रमुख हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक प्रसाद की परंपरा के माने जाते हैं। प्रसाद की भाँति हरिकृष्ण प्रेमी भी राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादन और समर्थन करते दिखाई देते हैं। उदयशंकर भट्ट ने प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों की आड़ में आधुनिक समस्याओं का चित्रण किया है। प्रसाद की अपेक्षा भट्ट जी में यह प्रवृत्ति अधिक उभरकर आयी है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र समस्या नाटकों की ओर से थोड़ा-सा ध्यान हटाकर ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटकों में भी अपनी लेखनी आजमाते हैं। अपने ऐतिहासिक नाटकों में मिश्र जी भारतीय राष्ट्रीय गौरव और व्यापक मानववादी दृष्टिकोण को बराबर सामने रखते हैं। वस्तुतः अपने परवर्ती नाटकों में मिश्र जी भारतीय संस्कृति के उद्धार की छटपटाहट लिए अवतरित होते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि पराजय की मानसिकता से ग्रस्त भारतीय युवक दिशाहीन होकर पाश्चात्य संस्कृति की ओर

बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में वे अनेक प्रकार से भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने नाटकों के जरिये भारतीय इतिहास को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। वे जाति-भेद और वर्ग-भेद मिटाकर नये समाज की रचना करना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने महावीर, बुद्ध और अशोक आदि महापुरुषों के उदात्त चरित्रों को केन्द्र में रखकर नाटकों की रचना करते हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' के निर्माता, प्रधान-शिल्पी 'विशु' के माध्यम से सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में आत्मविस्मृत कलाकार के महान पौरुष को जागृत किया है।

प्रसाद के पश्चात् नाटकों की दिशा में क्रांतिकारी परिवर्तन समस्या-नाटकों की रचना से हुये। ये समस्या नाटक प्रेरणा के लिए पाश्चात्य नाटककार 'इब्सन' और 'बर्नार्ड शॉ' के ऋणी हैं। यह प्रवृत्ति भारतीय नाटककारों को भी प्रभावित करने लगी और धीरे-धीरे यहाँ भी समस्या नाटकों की धारा फूट निकली। समस्या नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के राक्षस का मंदिर (1931), संन्यासी (1931), सिन्दूर की होली (1934), आधी रात (1937), पांडेय बेचन शर्मा शउग्रश के डिक्टेटर (1937), आवारा (1941), गोविन्द वल्लभ पंत का अंगूर की बेटी (1937), गोविन्द दास के विकास (1941), प्रकाश (1935), गरीबी और अमीरी (1947), उपेन्द्रनाथ, शअशकश के लक्ष्मी का स्वागत (1935), छठा बेटा (1940), अलग-अलग रास्ते (1954), अंजो दीदी (1955) आदि, वृन्दावन लाल वर्मा का खिलौने की खोज (1950), विनोद रस्तोगी का नये हाथ (1958) इत्यादि उल्लेखनीय नाटक हैं।

उल्लिखित नाटकों में सामाजिक और पारिवारिक जीवन की अनेक समस्याएँ उठायी गयी हैं। विवाह और प्रेम, नैतिकता और अनैतिकता, आधुनिक शिक्षा के दुष्परिणाम, अमीरी और गरीबी का द्वन्द्व, विधवा के पुनर्विवाह, घूसखोरी, जालसाजी, न्याय-अन्याय, पुराने मूल्यों का विघटन इत्यादि प्रमुख समस्याएँ हैं जो उपर्युक्त नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। ये नाटक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। इनमें भावुकता का कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार बर्नार्ड शॉ ने अपने सभी नाटकों में बौद्धिक और यथार्थवादी एप्रोच अपनाया उसी प्रकार अधिकांशतः भारतीय नाटककार ने भावुकता से बचने की कोशिश की और कटु-यथार्थ पर बल दिया।

प्रसादोत्तर नाटक और आधुनिकताबोध

जिस तरह सन् 1952-60 के बीच कविता, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में नए शिल्प, कथ्य का आविष्कार हुआ। नाटक भी उसके अछूता नहीं रहा। सन् 1954-55 से हिन्दी नाटक के क्षेत्र में भी नए शिल्प, कथ्य को अपनाकर आधुनिकता बोध को प्रकट करने की प्रवृत्ति साफ-साफ दिखाई देती है। अधिकांश आलोचकों ने भुवनेश्वर-प्रसाद के लघुनाटक ऊसर (1938) से आधुनिकता बोध का आरंभ माना है। कुछ आलोचकों ने प्रसाद के दूसरे नाटक तांबे के कीड़े (1946) को आधुनिकता बोध का दस्तावेज कहा है।¹⁵

¹⁵ हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999, पृष्ठ 267

‘ताँबे के कीड़े’ विसंगति बोध को (ऐब्सर्ड) केन्द्र में रखकर लिखा गया है। भुवनेश्वर को भारतीय ऐब्सर्ड नाटकों का जनक भी कहा जाता है। इस नाटक में भुवनेश्वर ने बेतरतीब वार्तालाप, बेढंगी परिस्थितियाँ और अपरिचित पात्रों को एक साथ मिलाकर जीवन की विसंगतियों को उजागर किया है क्योंकि आज का मानव जीवन निरुद्देश्य और अर्थहीन हो गया है। भुवनेश्वर के बाद धर्मवीर भारती का अंधायुग (1954) आधुनिकता बोध का सशक्त नाटक माना जाता है। इसी प्रकार से मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन (1958), लहरों के राजहंस (1963) और आधे-अधूरे (1969) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आषाढ़ का एक दिन यथार्थपरक नाटक है। लहरों के राजहंस मूल संवेदना, पात्र-परिकल्पना, संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व, वस्तु संरचना और संवाद-सभी दृष्टियों से आधुनिक नाटक है। ऐतिहासिक कलेवर में लिखा यह नाटक आधुनिक व्यक्ति की नियति की तलाश, स्त्री-पुरुष संबंधों आदि को लेकर आधुनिक है। वहीं आधे-अधूरे तो स्त्री-पुरुष संबंधों और महानगरीय विडम्बनाओं को दर्शाता आधुनिक बोध का सशक्त नाटक है। इस नाटक को स्त्री-विमर्शकारी दृष्टिकोण से भी देखने का प्रयास होना चाहिए। यह नाटक समकालीन यथार्थ के तनाव को पकड़ने में सक्षम है। इसका विश्लेषण व रंग संभावनाओं पर आगे के पृष्ठों में विचार किया जायेगा।

मोहन राकेश के बाद विपिन कुमार अग्रवाल के तीन अपाहिज (1963), ज्ञान देव अग्निहोत्री के शत्रुमुर्ग (1968), जगदीश चंद्र माथुर का पहला राजा (1969) लक्ष्मीनारायण लाल के सूर्यमुख (1968), मिस्टर अभिमन्यु (1971) और कप! (1972)

आदि नाटकों में आधुनिकता बोध के बिन्दुओं की तलाश की जा सकती है। मैंने समकालीन नाटकों में 1950 के बाद के महत्वपूर्ण नाटकों के अन्तर्गत भी उपर्युक्त नाटकों में से स्त्री-विमर्श से संबंधित नाटकों को इस उपशीर्षक में जगह दी है। आधे-अधूरे, बिना दीवारों के घर, संस्कार को नमस्कार आदि कुछ महत्वपूर्ण नाटकों के अलावा अन्य नाटक भी हैं जिनका स्त्री-प्रश्न की दृष्टि से महत्व है। उनका वर्णन अगले उपशीर्षक 'समकालीन नाटक' में है।

3.4 समकालीन नाटक

समकालीनता की अवधारणा बहुत ही व्यापक है। इसे किसी फ्रेम में नहीं बाँधा जा सकता। समकालीन का अर्थ है—सामयिक काल। यानी इस समय का काल। फिर यह प्रश्न उठता है कि समकालीन के अंतर्गत अभी के घटनाक्रमों का ही उल्लेख किया जाय? ऐसा नहीं है। कोई भी रचना चाहे व पद्य हो या गद्य अगर वह युग विशेष के संदर्भों से जुड़ जाये तो वही समकालीन है। इसी अर्थ में अगर नाटक के संदर्भ में देखें तो आचार्य भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' आज भी समकालीन है। कारण साफ है कि इसमें अभिनय से लेकर नाट्य लेखन, प्रदर्शन आदि के जो सूत्र हैं वह आज के नाटककार-निर्देशक का स्रोत-बिन्दु हैं। नाट्य-समीक्षाएँ हों या रंग-विमर्श इन सभी से जुड़े हुए लोग किसी-न-किसी रूप में भरतमुनि का आश्रय जरूर लेते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तमाम वैसी रचनाएँ जो आज के समय के लिए प्रासंगिक हैं— वे सभी समकालीन रचनाएँ हैं।

लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए इसे हम स्वतंत्रता पश्चात् नाटक भी कह सकते हैं। इसे 'स्वातंत्र्योत्तर' नाम भी दिया जा सकता है। इसके पीछे एक तर्क है कि पिछले उपशीर्षकों में मैंने विभिन्न युगों का जिक्र किया है, जिसके फलस्वरूप नाटकों के विकासक्रम को दिखाने के लिए स्वतंत्रता पश्चात् या स्वातंत्र्योत्तर युग ही एकमात्र विकल्प शेष बचता है।

इस उपशीर्षक में मैंने आजादी के बाद लिखे व प्रदर्शित किये गए वैसे प्रमुख नाटकों को आधार बनाया है जो सिर्फ और सिर्फ स्त्री-विमर्शों की वकालत करते हैं। एक महत्वपूर्ण बात और कि हिन्दी नाट्य लेखन परंपरा में महिला-नाट्य-लेखन का आगाज भी स्वतंत्रता के पश्चात् ही होता है। एक दिलचस्प तथ्य यह भी है कि कुछ ऐसे महिला नाटककार भी हैं, जिनके नाटक स्त्री-विमर्श के नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप मृणाल पांडेय। शहिन्दी का गद्य साहित्यश पुस्तक के रचनाकार डॉ. रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं—

“मृणाल पांडेय ने अपने नाटकों में आज के भ्रष्टाचार, अमानवीयता, राजसत्ता की मक्कारी तथा ईमानदार आदमी की असहायता और विवशता का सच्चा चित्र खींचा है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्त्री-पुरुष संबंधों के सीमित दायरे से बाहर आकर उन्होंने व्यापक सामाजिक संदर्भों को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है।”¹⁶

¹⁶ वही, पृष्ठ 281

स्वतंत्रता पश्चात् नाटककारों में धर्मवीर भारती, विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी, जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मीकांत वर्मा, शंभुनाथ सिंह, विनोद रस्तोगी, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, रेवती शरण शर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, रामेश्वर प्रेम, बी.एम. शाह, गिरीश कर्नाड, नरेन्द्र मोहन, महेन्द्र भल्ला, नन्द किशोर आचार्य, विजय तेन्दुलकर, हबीब तनवीर, प्रभाकर श्रोत्रिय, असगर वजाहत, शाहिद अनवर, मानव कौल इत्यादि प्रमुख हैं। साथ ही महिला नाटककारों में मन्नू भंडारी, शांति मेहरोत्रा, मृदुला गर्ग, मृणाल पांडेय, शोभना भूटानी, कुसुम कुमार, गिरीश रस्तोगी, त्रिपुरारि शर्मा, विमला रैना, शान्ता गांधी, मृदुला बिहारी, आयशा अहमद, मीरा कांत, नादिरा जहीर बब्बर आदि महत्वपूर्ण नाम हैं।

इस उपशीर्षक में स्त्री-विमर्श से संबंधित लगभग सभी नाटकों का संक्षेप में (विकासक्रम के अनुसार) अध्ययन-विश्लेषण किया गया है। साथ ही अध्ययन की सुविधा हेतु पुरुष नाटककारों तथा महिला नाटककारों के नाटकों की अलग-अलग जानकारियाँ दी गई हैं। हालाँकि स्त्री-विमर्श यह कहता है कि स्त्री के बारे में केवल स्त्री ही लिख सकती है फिर भी पुरुष लेखकों के स्त्री संबंधी विचार कमतर नहीं आँके जा सकते। इसलिए उनके नाटक भी लिए जा रहे हैं।

बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि स्त्री-विमर्श है। लेकिन यह उपलब्धि अनायास ही प्राप्त नहीं हो गई। यहाँ तक पहुँचने के लिए उसे कितनी पीड़ाओं, अग्नि-परीक्षा आदि से गुजरना पड़ा है, फिर भी अब तक ये लड़ाई जारी है। एक लोकतांत्रिक समाज में विकास की प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती है। सारे

मापदंड या सामाजिक मानदंड यँ ही नहीं बदल जाते हैं, बल्कि गतिशील प्रक्रिया के तहत वह समाज में परिवर्तन लाते हैं।

यह सच है कि मातृसत्तात्मक समाजों में शक्ति स्वरूप नारी का वर्चस्व और उच्च स्थान रहा है और इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता है कि हर देश और काल में ऐसी स्त्रियों की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है जिन्होंने अपने सौन्दर्य, साहस, बुद्धि-विवेक, धैर्य और माधुर्य से पुरुष-सत्ता को पराजित किया है। आज के समय में तो नारी-उत्थान और नारी-प्रभुत्व को समाज के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। इस सबके बावजूद इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि लगभग प्रत्येक देश-काल में सामान्य स्त्री की स्थिति दमित, शोषित और दोगम दर्जे के व्यक्ति की रही है। और तो और उसके प्रति हिंसा, बलात्कार आदि जैसे घिनौने अपराध आए दिन होते रहते हैं ऐसे में किसी राष्ट्र व समाज को विकसित कैसे कहा जा सकता है? उस समाज को सभ्य कैसे कहा जा सकता है जहाँ महिलाओं को पुरुषों के समान समानता, स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त न हो? महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार और हिंसा के बारे में संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान का कहना है—

“महिलाओं के साथ हिंसा मानव अधिकार उल्लंघन का सबसे शर्मनाक व व्यापक उदाहरण है। इसकी कोई भौगोलिक, सांस्कृतिक व आर्थिक सीमाएँ नहीं हैं

और जब तक ये जारी रहेगी तब तक हम समानता, विकास और अमन की दिशा में वास्तविक प्रगति करने का दावा नहीं कर सकते।”¹⁷

आमतौर पर महिलाओं को भोग-विलास और सन्तानोत्पत्ति की श्वस्तुश समझा जाता रहा है। धर्म और विवाह जैसी संस्थाओं ने उसे नित नए और कठोर बंधनों में जकड़कर पुरुष को स्वामी और स्त्री को दासी बनाए रखने का काम किया है। संयुक्त परिवार व्यवस्था ने नैतिकता और मर्यादा के नाम पर स्त्री का सर्वाधिक दमन और शोषण किया गया है। यही कारण है कि मध्यकाल में नारी की इस दयनीय स्थिति के विरोध में आधुनिक काल की जागरूक, शिक्षित एवं आत्म-निर्भर स्त्री ने न केवल संयुक्त परिवार के ढाँचे को ही तोड़ दिया है बल्कि उस सामंती व्यवस्था से विद्रोह करके पुरुष के समान अधिकारों को हासिल करने की लड़ाई भी छेड़ दी है।

स्त्री-विमर्श एक गंभीर, संवेदनशील एवं बहुआयामी विषय है। दैहिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक-स्त्री-विमर्श के कई पहलू हैं। स्वाभिमान, स्वावलम्बन और स्वतंत्रता-स्त्री विमर्श की केन्द्रीय धुरी है। समानता, सम्मान और न्याय की प्राप्ति और सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति इसका नारा है। स्त्री-विमर्श एक संग्राम है जोरसोई, बिस्तर और झाड़ंग रूम की कैद से बाहर निकलने और समाज में अपनी निजी पहचान एवं जगह के लिए आज की स्त्री कई स्तरों पर लड़ रही है।

¹⁷ संपादकीय, हम सबला, संपादिका-जुही जैन, मार्च-अप्रैल 2009, पृष्ठ 1

जयदेव तनेजा के शब्दों में— “इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह भी है कि कहीं आज का स्त्री-विमर्श केवल देह-विमर्श के संकीर्ण दायरे में तो कैद होकर नहीं रह गया है? क्या स्त्री-मुक्ति का अर्थ पुरुष से शत्रुता और स्त्रीत्व से भी मुक्ति भर तो नहीं है? मुक्ति का संबंध जितना बाहर से है उतना ही, शायद उससे भी ज्यादा अपने भीतर से है। स्वनिर्णय मूलभूत अधिकार है परन्तु यह एक महज सुविधा ही नहीं, एक बड़ी चुनौती भी है जो परिणाम भुगतने के साहस से जुड़ी है। इसका अर्थ स्वेच्छाचार एवं यौन-उन्मुक्तता ही नहीं है— यह स्त्री सशक्तीकरण, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य आदि) जैसे व्यापक प्रश्नों से जुड़ा है।”¹⁸

आजादी के पश्चात् हमारे सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक जीवन आदि में स्त्री की बदलती हुई सक्रिय, सशक्त व महत्वपूर्ण छवि ने अपने दौर के स्त्री-चरित्रों में कुछ बुनियादी परिवर्तन के संकेत दिए। धर्मवीर भारती का नाटक अंधायुग (1954) की नायिका गांधारी भगवान श्रीकृष्ण को चुनौती देने वाली एक अनूठा चरित्र है। इसी प्रकार लक्ष्मी नारायण लाल का मादा कैक्टस (1958) नाटक की नायिका सुजाता अपने पति अरविन्द से उपेक्षित और परित्यक्त होकर टूटने या मरने की बजाय संघर्ष का रास्ता अपनाकर अपनी गरिमा और पहचान अर्जित करती है। वस्तुतः इस नाटक में नारी-मन की जटिलता व स्त्री-पुरुष के बीच के द्वंद्व को दिखाया गया है।

¹⁸ जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2, संस्करण 2010, पृष्ठ 41

समकालीन बोध की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन (1958), लहरों के राजहंस (1963) और आधे-अधूरे (1969), विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास में मोहन राकेश का योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी नाटकों को रोमैंटिक भाव बोध से मुक्त कर आधुनिक भाव बोध से जोड़ा है। राकेश समकालीन जिंदगी की विडम्बना और तनाव को अधिक सूक्ष्मता तथा गहराई से पकड़ने वाले नाटककार हैं। इनके उपर्युक्त उल्लिखित तीनों नाटक स्त्री-पुरुष संबंधों की बानगी को बयाँ करते हैं।

‘आषाढ़ का एक दिन’ नाटक में महाकवि कालिदास की प्रेमिका मल्लिका निष्ठावान, भावुक और त्याग की प्रतिमूर्ति दिखाई देती है। जीवन के कटु और कठिन यथार्थ से आँखें मूंदकर ‘भावना में भावना का वरण’ करने वाली यह अति संवेदनशील नारी प्रसाद की देवसेना और कोमा की यादें ताजा कर देती हैं। पुरुष से लगातार छली जाने के बावजूद वह उस पर अधिकार करने को आतुर प्रियंगुमंजरी बनना स्वीकार नहीं करती। वह समर्पण और सहनशीलता की प्रतिमूर्ति है, आदर्शमयी व पारंपरिक नारी है।

राकेश का दूसरा नाटक ‘लहरों के राजहंस’ की नायिका सुन्दरी का चरित्र मल्लिका से एकदम जुदा है। वह अपने अहंकार और अधिकार से पुरुष नंद को बांधती ही नहीं वरन् अपने बंधन में पूरी तरह जकड़े रहना भी चाहती है। सुन्दरी का चरित्र रूप ठोस, सबल और विद्रोही है। परन्तु नन्द के चले जाने के बाद उसका टूटना और रोना न केवल उसकी भीतरी कमजोरी को ही उजागर करता है

बल्कि यह भी सिद्ध कर देता है कि स्त्री चाहे कितनी भी आत्मसम्मानि, स्वतंत्र और शक्तिशाली क्यों न हो, पुरुष के सहारे के बिना वह अधूरी और निर्बल ही है। यह नाटक वस्तुतः आधुनिक व्यक्ति के द्वन्द्व व संशयग्रस्त मानसिकता को गहराई से उभारता है।

मोहन राकेश का तीसरा महत्वपूर्ण नाटक 'आधे-अधूरे' 'स्त्री-पुरुष संबंधों व महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं का गहराई से पड़ताल करता है। इसकी नायिका सावित्री को राकेश एक जुझारू और आधुनिक कामकाजी स्त्री की नई भंगिमा प्रदान करते हैं। सावित्री निठल्ले पति और एक-दूसरे से कटे परिवार को संभालती ही नहीं बल्कि अकेले दम पर चलाने का हौसला भी रखती है। वह चरित्रवान पत्नी की पारंपरिक छवि को तोड़कर घर के बाहर कई प्रेम-संबंध भी बनाती है, पति से बराबर की टक्कर भी लेती है और उसे छोड़कर अपनी नई दुनिया बनाने का सक्रिय प्रयास भी करती है।

आधे-अधूरे की रचना के पीछे राकेश का यह स्पष्ट उद्देश्य रहा है कि वह व्यक्तित्व और संबंधों-दोनों के अधूरेपन को उजागर करें। इस बात को कहने के लिए नाटककार ने जिस जीवन स्थिति का चुनाव किया है वह अपने आप में भी कुछ कहती है। पारिवारिक विघटन की दिशा और दशा का चित्रण, बदलते हुए आर्थिक मूल्यों के संदर्भ में संबंधों के बदलते हुए मूल्यों का चरित्र परीक्षण, परिस्थितियों के समक्ष व्यक्ति की पराजय की नियति का दिग्दर्शन, मानवीय असंतोष, कामनाओं की अतृप्ति से उपजा अधूरापन, आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार की

जीवनगाथा, महानगरीय परिवेश में मध्यवर्गीय परिवार की अभावग्रस्तता और रूढ़ संस्कारों के बीच छटपटाती मानवता का निदर्शन आदि कई अर्थ और कथ्य नाटक में एक साथ मौजूद देखे जा सकते हैं।

अपने अधूरेपन को सावित्री अन्य चार मर्यों से संबंध जोड़कर पूरा करना चाहती हैं, लेकिन एक स्तर पर उसे सभी एक जैसे चरित्र वाले ही लगते हैं—

स्त्री : बस बस बस....! जितना सुनना चाहिये था, उससे बहुत ज्यादा सुन लिया है आपसे मैंने। बेहतर यही है कि अब आप यहाँ से चले जायें, क्योंकि...।

पुरुष चार : मैं जगमोहन के साथ हुई तुम्हारी बातचीत का सही अन्दाजा लगा सकता हूँ, क्योंकि उसकी जगह मैं होता तो मैंने भी तुमसे यही सब कहा होता। वह कल-परसों फिर फोन करने को कहकर तुम्हें घर के बाहर उतार गया। तुम मन में एक घुटन लिये घर में दाखिल हुई। और आते ही तुमने बच्ची को पीट दिया। जाते हुए सामने थी एक पूरी जिंदगी पर लौटने तक का कुल हासिल?—उलझे हाथों का गिजगिजा पसीना और...।

स्त्री : मैंने आपसे कहा है न, बस! सब-के-सब..... सब-के-सब.... एक-से! बिल्कुल एक-से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही!"¹⁹

¹⁹ आधे-अधूरे, मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2, पाँचवाँ संस्करण, 1984, पृष्ठ 94

यहाँ पर सावित्री पुरुषवादी मानसिकता से खिन्न आकर ऐसी बातें कहती हैं। यही है नर-नारी संबंध और उसमें नियति का हस्तक्षेप और इस सबके बीच से उभरने वाला जीवन का अधूरापन, व्यक्तित्व का अधूरापन।

“आधे-अधूरे का कथ्य वहाँ महत्वपूर्ण है जहाँ नाटक एक पति-पत्नी के जीवन की विसंगतियों का नाटक ही बनकर नहीं रह जाता, आज के मध्यवर्गीय जीवन की विभिन्न विसंगतियों का प्रतिनिधि नाटक बन जाता है। समकालीन उदास जिंदगी की विवशताओं और यातनाओं की मूर्त अभिव्यक्ति बन जाता है। नाटक केवल नर-नारी संबंधों का विश्लेषण भर नहीं रह जाता, कहीं गहरे आज की युवा पीढ़ी (अशोक, बिन्नी) के दिग्भ्रान्त, नपुसंक आक्रोश, निष्क्रिय एवं निरर्थक जीवन आदि को भी उतना ही ध्वनित करता है तो कहीं उससे भी आगे बढ़कर किन्नी जैसी छोटी लड़की के भीतर जमी यौन-उत्सुकता के जरिये जीवन की विसंगतियों से पलायन की एक दिशा की ओर संकेत भी करता है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की यह एक सामान्य शिल्पगत विशिष्टता दिखती रही है कि अधिकांश अच्छे नाटक अर्थगत व्याख्याओं की दृष्टि से अनेक संभावनाएँ रखते हैं ताकि अलग-अलग प्रदर्शनों में अलग-अलग अर्थों पर बल देकर हर प्रदर्शन में नाटक को नया व्यक्तित्व दिया जा सके। ‘आधे-अधूरे’ में यह संभवना प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।”²⁰

इस प्रकार ‘आधे-अधूरे’ समकालीन जिंदगी का पहला सार्थक नाटक माना जाता है। समकालीन जीवन के तनावों, शंकाओं, विडम्बनाओं और विसंगतियों को

²⁰ नरनारायण राय, नाटकनामा, सन्मार्ग प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली-7, प्रथम संस्करण, 1993, पृष्ठ 36

तथा ऊब, निराशा, अलगाव, संत्रास इत्यादि भावों को मोहन राकेश ने अपने साहित्य में पूरी शिद्धत के साथ जगह दी है। इनके तीनों नाटक हिन्दी के मौलिक नाटकों में आते हैं। ये मील के पत्थर की तरह हैं। रंगमंच पर सैकड़ों प्रदर्शन इनकी सफलता के सूचक हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा अनेक कारणों से एक चर्चित नाम है। इस प्रसिद्धि का सबसे अहम कारण है— काम संबंधों की सूक्ष्म और यथार्थ व्याख्या करना। सन् 1970 से भारतीय परिवार और समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में कोई क्रांतिकारी बुनियादी अंतर आया या नहीं परन्तु सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, मुद्राराक्षस के नाटकों में यह साफ तौर से दीख पड़ा।

अब प्रेम का स्थान स्पष्टतः सेक्स ने ले लिया। नाटककार सुरेन्द्र वर्मा के नाटक उसी समय प्रकाशित हो रहे थे जब रमेश बक्षी का देवयानी का कहना है, मुद्राराक्षस का योअर्स फेथफुली, तिलचट्टा आदि जैसे नाटक एक ओर अपने अश्लील, भद्दे और फूहड़ प्रदर्शन से हिन्दी रंगमंच पर दर्शकों की भीड़ जुटाने के प्रयत्न में रचनात्मक मूल्य खोकर अपना अस्तित्व भी नष्ट कर रहे थे तो दूसरी ओर शारदीया, लहरों के राजहंस, आधे-अधूरे, कयूं आदि जैसे नाटकों की मर्यादित परंपरा भी पृष्ठभूमि के रूप में उन्हें अनायास मिली जो सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल पर मनोरंजन कर मानसिक द्वन्द्व को उभारने और स्त्री-पुरुष संबंधों की मर्यादित व्याख्या करने के कारण शारीरिक धरातल से दूर श्लीलता की ही मर्यादा में बने रहे।

सुरेन्द्र वर्मा को बहुत सारे नाट्यालोचक 'काम संबंधों के कमनीय यथार्थ का चितेरा' 'सेक्स का रंग-व्यापारी' आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं तो दूसरे प्रकार के नाट्यालोचक भी हैं जो उन्हें 'स्त्री-पुरुष मनोविज्ञान का पारखी' आदि मानते हैं। 'द्रौपदी' नाटक में महाभारत कालीन द्रौपदी के पाँच पतियों के मिथक को आधुनिक जीवन संदर्भों से जोड़कर एक नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'द्रौपदी' में कुल मिलाकर स्त्री को 'भोग्या' समझा गया है। उसे इस्तेमाल करने की वस्तु माना गया। आधुनिक स्त्री-विमर्श में यह नाटक अस्वीकार करने की श्रेणी में रखा जा सकता है।

इसी प्रकार आज के 'लिव इन रिलेशन' और एकाकी जीवनशैली को दर्शाता रमेश वक्षी का नाटक 'देवयानी का कहना है' विवाह संस्था जैसी चीजों में विश्वास नहीं रखता। इसी चरण में मुद्राराक्षस का 'तिलचट्टा' यौन-कुण्ठाओं का प्रतीक नाटक स्त्री-यातना को आधार बनाकर तथा पौराणिक कथा के माध्यम से नए शिल्प की सृष्टि करने वाले भीष्म साहनी का नाटक 'माधवी' काफी चर्चित नाटक है। इस नाटक में गालव (विश्वमित्र के शिष्य) और माधवी की प्रसिद्ध पौराणिक कथा को आधुनिक संदर्भ से जोड़कर सदियों से पशुवत् जीवन व्यतीत करती हुई भारतीय नारी की पीड़ा को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'माधवी' यद्यपि स्त्री-विमर्श का नाटक माना जाता है, लेकिन यह स्त्री-विमर्श पितृसत्तात्मक मानसिकता के साथ चलने वाला विमर्श है, जिसमें माधवी एक रबड़ स्टैम्प की भाँति सब कुछ स्वीकारती जाती है। उसमें आत्म-निर्णय नहीं दिखता। स्त्री-समस्या से ही जुड़ा

एक नाटक है— इला (1989) इसके नाटककार प्रभाकर श्रोत्रिय हैं। इस नाटक में स्त्री के मातृत्व के प्रश्न सत्ता के कुचक्र में पिसता हुआ सामने आया है। पुराण कथा के माध्यम से पुरुष, सत्ता और शक्त द्वारा प्रकृति स्त्री पर अनादि काल से लेकर आज तक विविध रूपों और स्तरों पर किए जाने वाले अत्याचार का जीवंत दस्तावेज है। सत्ता और सत्य के बीच की विसंगतियों का तीखा चित्रण इस नाटक में हुआ है। यह स्थिति की विडम्बना और प्रकृति के प्रतिशोध का नाटक है। इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद के नाटकों में स्त्री के यौन-जीवन और उसकी 'सेक्सुअलिटी' को विशेष स्थान दिया गया। इसके पूर्व के नाटकों में स्त्री चरित्र की अभिव्यक्ति एक आदर्श स्त्री के रूप में होती आई थी।

समकालीन महिला नाटककारों में मन्नू भंडारी का नाटक 'बिना दीवारों के घर' (1965) मध्यमवर्गीय परिवार की नारी की स्वतंत्रता को लेकर लिखा गया नाटक है। इसमें पति-पत्नी के बीच के तनाव भरे जीवन को मूर्त किया गया है। नाटककार ने पति-पत्नी के मध्य तीसरे व्यक्ति की स्थिति और उससे पति-पत्नी के टूटते बिखरते संबंध को आधुनिक नगरीय समाज के माध्यम से उठाया है।

मृदुला गर्ग का नाटक 'एक और अजनबी' (1978), में पारिवारिक विघटन व संत्रास को उभारा गया है। वस्तुतः आज भी नारी पारिवारिक जीवन की धुरी है। पारिवारिक तनाव और स्त्री पुरुष-संबंधों की जटिलता का जितना सटीक और प्रामाणिक चित्रण वह कर सकती है, पुरुष नहीं कर सकता। मृदुला गर्ग ने इस नाटक में यह साबित कर दिखाया है। कुसुम कुमार महिला नाट्य-लेखन के क्षेत्र में

काफी चर्चित नाम है। इनके नाटक काफी संख्या में प्रकाशित हुए। प्रमुख महत्वपूर्ण नाटक इस प्रकार हैं:— ओम क्रांति क्रांति (1978), सुनो शेफाली (1979), दिल्ली ऊँचा सुनती है (1982), संस्कार को नमस्कार (1982), रावण—लीला (1983)। स्त्री—विमर्श के लिहाज से कुसुम कुमार के नाटक अधिक महत्वपूर्ण हैं।

भारतीय नाट्य इतिहास में ये पहली महिला नाटककार हैं, जिनके सर्वाधिक नाटक स्त्री—आकांक्षाओं को आधार बनाकर लिखे गये हैं। कुसुम कुमार के दो नाटक सुनो शेफाली (1979) और संस्कार को नमस्कार (1982) स्त्री विमर्श की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। हरिजन युवती शोफली एक आत्मसम्मानि और सुदृढ़ व्यक्तित्व वाली नायिका है जो सत्ताधारियों, समाजसेवकों, पूँजीपतियों और भ्रष्टाचारियों के खिलाफ अकेले दम लड़ने का हौसला रखती है। वह प्रेम और उदारता के नाम पर उसका जातिवादी राजनीतिक इस्तेमाल करने को आतुर सत्यमेव दीक्षित जैसे चालाक और घाघ नेता और उसके बेटे बकुल के सामने चुनौती बनकर खड़ी हो जाती है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

माँ : लेकिन उसके प्यार में तू खुद फंसी है.....अब हमसे शिकायत किस बात की करती है?....तू जानती थी, वे लोग मतलबी हैं तो अपनी आबरू क्यों गंवाई तूने?

शेफाली : तू क्या उन्हें इतना भोला समझती है अम्मा? वह क्यों शादी करना चाहता है मुझसे अभी 'इसी वक्त'। मैं खूब समझती हूँ....बाप बेटा अपनी समाज सेवा की हथेली पर सरसों जमाना चाहते हैं....एक हरिजन लड़की का उद्धार किया उन्होंने—

यही कह-कहकर अपने लिए जिंदाबाद के नारे लगवाएंगे....और मैं?.....उनके विज्ञापन का वाक्य बनी।....²¹

इसी प्रकार नारी उद्धार की आड़ में हो रहे नारी-शोषण की कहानी कहने वाला नाटक शसंस्कार को नमस्कार मूलतः व्यंग्य नाटक है। कथ्य के स्तर पर यह नाटक महिला आश्रम में हो रहे महिला शोषण पर प्रत्यक्ष प्रहार करने वाला नाटक है। महिला आश्रम को किसी पुरुष द्वारा चलाना अपने आप में सवाल खड़े करता है। क्योंकि वर्तमान में कई ऐसे धर्म व समाज-सुधार के ठेकेदार समाज में उपस्थित हैं, जो सुधार के नाम पर स्त्री का शोषण करते हैं। इसी वर्ष एक नामधारी बाबा की करतूतों को पूरा विश्व देख चुका है। महिलाओं की व्यक्तिगत समस्या, सामाजिक अस्थिरता एवं महिला आश्रम में परोक्ष रूप से हो रहे यौन शोषण, अत्याचार तथा भ्रष्टाचार को एक साथ रेखांकित करने वाला यह नाटक संपूर्ण नारी-समाज की व्यथा कहता है।

स्त्री की स्थिति और नियति तथा व्यापक मानवीय-सामाजिक सरोकारों से संबद्ध लगातार सार्थक नाट्य-लेखनरत रहने के कारण समकालीन हिन्दी रंग-परिदृश्य में लेखिका-निर्देशिका त्रिपुरारि शर्मा का विशिष्ट स्थान है। सामंती मूल्यों और परंपरागत रूढ़ियों का विरोध करते हुए अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत नारी की कहानी को त्रिपुरारि शर्मा ने अपने नाटक बहू (1979) का उद्देश्य बनाया है। बहू शुरुआत में एक आधुनिक एवं जागरूक विद्रोही स्त्री का नाटक है, बीच में

²¹ सुनो शेफाली, पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण 1979, पृष्ठ 58

देह की माँगों के सामने एक कमजोर बेबस नारी का और अन्त में संघर्ष छोड़कर पलायन की ओर कूच करने वाली नारी का नाटक है।

त्रिपुरारि शर्मा का ही दूसरा नाटक रेशमी रूमाल (1989) आम भारतीय परिवारों में स्त्रियों की घुटन, कुंठा, पीड़ा और विडम्बना को उभारता है। मौजूदा पारिवारिक-सामाजिक ढाँचे में स्त्री-जीवन की कठिनाईयों को कई आयामों से देखने-परखने की कोशिश इस नाटक में की गई है। कढ़ाई, बुनाई, सिलाई, त्यौहार, लोकगीत आदि स्त्री-जीवन को स्वस्थ एवं संबंधों की घुटन और त्रासदी की दृष्टि से यह नाटक अप्रतिम है। त्रिपुरारि शर्मा के अन्य महत्वपूर्ण नाटकों में से एक नाटक है- सन् 1857 का किस्सा: अजीजुन निसा (1999) इस नाटक में सन् 1857 की बगावत में एक स्त्री वीरांगना को आधार बनाकर, स्त्री-प्रश्नों को खड़ा किया गया है। सन् 1857 के गहरे अध्ययन के पश्चात् नाटककार ने कानपुर की एक ऐसी तवायफ को ढूँढ निकाला जो अपना कोठा छोड़ सिपाही बनकर आजादी की लड़ाई के मैदान में आ खड़ी हुई थी। तवायफ से सिपाही बनी और खुद को पूरा सिपाही सिद्ध करने की हर संभव कोशिश के बावजूद अजीजुन अलीखान द्वारा पराजित होने के बाद सिर्फ इसलिए जिंदा छोड़ दी जाती है कि वह एक औरत है।

अजीजुन को इस बात का बेहद अफसोस होता है कि वह पूरी तरह से सिपाही न बन सकी। यहाँ पर यह स्त्री-प्रश्न कि शक्या स्त्री केवल पुरुष बनकर ही स्वयं को प्रमाणित कर सकती है?— स्त्री-विमर्श का वातायन खोलता है। अजीजुन का यह सवाल अपने अधिकार और अलग पहचान के लिए लड़ रही आज की

प्रत्येक स्त्री के अस्तित्व का एक बुनियादी और आवश्यक प्रश्न है। इस सवाल से सीधे मुठभेड़ किए बिना परिवार हो या समाज, स्त्री और पुरुष की सही-सही जगह, भूमिका और महत्ता को रेखांकित नहीं किया जा सकता। इन संदर्भों में यह नाटक महत्वपूर्ण स्त्री-प्रश्न उठाता है।

स्त्री-विमर्श से संबंधित एक और महत्वपूर्ण महिला नाटककार के नाम के जिक्र के बिना यह अध्याय अधूरा ही रहेगा। यह महत्वपूर्ण नाम है— समकालीन नाटक और रंगमंच के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर नादिरा जहीर बब्बर का। प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक सज्जाद जहीर की पुत्री नादिरा जहीर में एक साथ तीनों गुणों जैसे-अभिनेत्री, नाटककार, निर्देशिका का समावेश है। इनके अब तक पाँच नाटक प्रकाशित और मंचित हो चुके हैं—

दयाशंकर की डायरी, सकूबाई, जी, जैसी आपकी मर्जी, सुमन और सना तथा ऑपरेशन क्लाउडबर्स्ट। स्त्री-विमर्श को आधार बनाकर लिखा गया नाटक 'जी, जैसी आपकी मर्जी' नाम से ही पुरुष-समाज के आधिपत्य की ओर संकेत करता है। 'जी' का अर्थ है 'आँख मूंद के मान लेना' और आपकी मर्जी का 'पुरुष की इच्छा'। अर्थात् स्त्री की इच्छा उसकी नहीं होती बल्कि वह पुरुषों के आदेश से संचालित होती है। नादिरा का मानना है कि जन्म से लेकर मरणोपरांत स्त्री को पुरुषों की आश्रय स्थली बनकर रहना पड़ता है। सारी उम्र वह उसकी मर्जी के मुताबिक कठपुतली की तरह नाचती रहती है। हमारी धार्मिक मान्यताएँ, परंपराएँ, और सामाजिक रूढ़ियाँ स्त्री की इस दयनीय दशा और नियति की विडम्बनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। अपनी इसी सोच व विचार को साबित करने के लिए नादिरा ने

चार विभिन्न क्षेत्रों बंगाली, मराठी, मुस्लिम और पंजाबी पृष्ठभूमि एवं संस्कृतियों की नौ-दस साल से लेकर अड़तीस-चालीस के बीच की उम्र की चार स्त्री-चरित्रों का इस्तेमाल कर नया रंग-प्रयोग किया है। मतलब यह कि स्त्री किसी भी समुदाय, धर्म व संस्कृति की हो उसके प्रति सामाजिक विचार में कोई फर्क नहीं आया है। घर में किस प्रकार लड़के-लड़की में भेद किया जाता है यह इस उदाहरण से स्पष्ट है—

दादी : क्या किताबें लेके बैठी है? दिख नहीं रहा है, भाई घर आया है, उसको उठकर पानी पिला। मुझे (दीपा) भी गुस्सा आ गया मैंने कहा—

दीपा : भैया अपने आप पानी नहीं पी सकते? ये सुनकर भैया ने मुझे जोर से थप्पड़ मारा और कहा कि ढीठ हो गई है ढीठ। एक दिन जमके धुलाई कर दूँगा ना फिर दिमाग ठिकाने आ जायेगा।²²

इस प्रकार पितृसत्तात्मक मानसिकता को उजागर करते हुए नादिरा ने समाज में लड़के-लड़कियों के बीच भेदभाव को दिखाया है। इसी प्रकार वर्षा तथा दीपा के बीच वार्तालाप में सामाजिक विभेद खुलकर सामने आया है—

वर्षा : ए सुनो, क्या हुआ? क्यों रो रही हो?

दीपा : मैं कहाँ रो रही हूँ।

वर्षा : ये क्या खेल रही हो?

²² जी, जैसी आपकी मर्जी, नादिरा जहीर बब्बर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ 15

दीपा : स्टापू

वर्षा : कैसे खेलते हैं?

दीपा : तुम्हें स्टापू नहीं आता, तुमने बचपन में नहीं खेला?

वर्षा : खेला होगा शायद पर मुझे याद नहीं।

दीपा : कोई बात नहीं, मैं सिखा दूंगी, आओ।

(दर्शकों से) अरे बाबा इसको समझाने में तो बहुत टाइम जाएगा (वर्षा से), ये लो गिट्टी, ये जो खाने बने हैं, ये स्टापू हैं, मैं आके तुम्हें सब समझाती हूँ, तुम यहीं खड़ी रहना। और सुनो ज्यादा दिमाग पे ज्यादा जोर मत डालना, जितना है वो भी खत्म हो जाएगा। (दीपा चली जाती है।)

वर्षा : (गुस्से में) अग...बाई! वधा कैसे बोल के गई जैसे मेरी नानी हो आज कल के बच्चे एक्स्ट्रा स्मार्ट हम लोग तो कितने सिम्पल थे, मुझे तो अभी भी याद है। जैसे ही मैं सातवीं से 8वीं क्लास में आई मेरी तो लाइफ ही बदल गई, अब स्कर्ट नहीं पहनना, फ्रॉक नहीं पहनना, पंजाबी ड्रेस ही पहनना। हूँ SSS लड़कियाँ....ऐसे नहीं बैठती, वैसे नहीं बैठतीं, लड़कियाँ...जोर से नहीं हंसती, लड़कों के साथ खेलना बंद।²³

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय समाज आज भी स्त्रियों को स्वतंत्र देखना पसंद नहीं करता। परंपरागत मूल्यों की जकड़बंदी इस कदर हावी है कि उससे महिलाओं को निकालना बहुत ही मुश्किल कार्य है। नादिरा जहीर बब्बर इसी

²³ वही, पृष्ठ 19

परंपरागत खोल को तोड़ने की बात करती हैं। “चार एकल-नाट्यों का कोलाज इस नाटक को एक नई अर्थवत्ता प्रदान करता है। एक नया रंग-प्रयोग है। चारों महिला पात्र एक दूसरे को पहचानती भले न हों लेकिन एक-दूसरे को अच्छी तरह जानती हैं- क्योंकि स्त्री होने के नाते ये चारों पुरुष वर्चस्व वाले क्रूर समाज में दर्द की एक ही डोर और उपेक्षा-अपमान की एक ही नियति से बंधी हैं। नाटक सवाल उठाता है कि जिंदा रहने के लिए औरत का अंधा, बहरा और गूंगा बन जाना क्यों जरूरी है?”²⁴

इस प्रकार स्त्री-प्रश्न और प्रमुख नाटकों के परिचय के द्वारा स्त्री-विमर्श के विभिन्न पहलुओं को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः स्त्री समाज का वो हिस्सा है जिसे न तो विस्मृत ही किया जा सकता है और न ही नेपथ्य में ही रखा जा सकता है। एक लोकतांत्रिक व स्वस्थ समाज के लिए स्त्रियों को सम्मान देना ही होगा। उसके प्रति पौराणिक मान्यताएँ बदलनी ही होंगी। उसके प्रति सकारात्मक सोच लानी होगी तभी समाज उन्नति की राह पर अग्रसर हो सकेगा। स्त्री-प्रश्नों से संबंधित महिला नाटककारों के विकासक्रम में मीराकांत का नाम इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि ये सिर्फ स्त्री-विमर्श की नाटककार नहीं हैं बल्कि मुकम्मल साहित्यकार हैं। अगला अध्याय उनके नाटकों के विवेचन-विश्लेषण पर केन्द्रित है।

²⁴ जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली-2, पहला संस्करण, 2010, पृष्ठ 291

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, द्वितीय सं. 2002, पृष्ठ 246
2. वही, पृष्ठ 248
3. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग-1, नागरी प्रचारिसणी सभा, काशी संवत् 2007 (सन् 1950 ई.), पृष्ठ 519
4. वही, पृष्ठ 543
5. वही, पृष्ठ 545
6. हिन्दी नाटक : नई परख, संपा. गौतम, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 16
7. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1992, पृष्ठ 260
8. हिन्दी नाटक : नई परख, संपा. रमेश गौतम, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 136
9. डॉ. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल प्रकाशन, संस्करण 2008, पृष्ठ 219

10. ध्रुवस्वामिनी, जयशंकर प्रसाद, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2010, पृष्ठ 30
11. वीरेन्द्र नारायण, वीरेन्द्र नारायण ग्रंथावली, भाग 2, संपादक— मंगलमूर्ति, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृष्ठ 355
12. डॉ. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ 122
13. अम्बा, उदयशंकर भट्ट, पृष्ठ 80—81
14. हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, रमेश गौतम; अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली—32, प्रथम संस्करण 1997, पृष्ठ 326
15. हिन्दी का गद्य—साहित्य, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 1999, पृष्ठ 267
16. वही, पृष्ठ 281
17. संपादकीय, हम सबला, संपादिका—जुही जैन, मार्च—अप्रैल 2009, पृष्ठ 1
18. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य—विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली—2, संस्करण 2010, पृष्ठ 41
19. आधे—अधूरे, मोहन राकेश, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली—2, पाँचवाँ संस्करण, 1984, पृष्ठ 94
20. नारनारायण राय, नाटकनामा, सन्मार्ग प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली—7, प्रथम संस्करण, 1993, पृष्ठ 36

21. सुनो शेफाली, पराग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण 1979,
पृष्ठ 58
22. जी, जैसी आपकी मर्जी, नादिरा जहीर बब्बर, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2,
प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ 15
23. वही, पृष्ठ 19
24. जयदेव तनेजा, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई
दिल्ली-2, पहला संस्करण, 2010, पृष्ठ 291

चतुर्थ अध्याय

मीराकांत के साहित्य संसार में स्त्री

4.1 नाट्य साहित्य में स्त्री

महिला सरोकारों को लक्षित रचनाधर्मिता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो पुरुष रचनाकारों की लंबी फेहरिस्त आँखों के सामने आती है। महिला रचनाकारों की उपस्थिति नगण्य मात्र है। पर ये भी सही है कि महिला सरोकारों से जुड़ी महिला रचनाकारों ने भी समय-समय पर अपनी उपस्थिति को बहुत सशक्तता के साथ अनुभव कराया है। अपने लेखन से नारी प्रश्नों को उद्वेलित करने वाली ऐसी ही रचनाकार हैं—मीरा कांत। मीरा कांत के लेखन की सफलता खासकर नाटक-लेखन की सफलता को इसी से समझा जा सकता है कि ये दो बार साहित्य कला परिषद् का प्रतिष्ठित सम्मान 'मोहन राकेश सम्मान' पा चुकी हैं। एक 'नेपथ्य राग' के लिए और दूसरा 'उत्तर-प्रश्न' के लिए।

मीरा कांत ने सिर्फ स्त्री-विमर्श केन्द्रित नाटकों तक ही अपने को सीमित नहीं किया है बल्कि ये इतिहास, मिथक आदि का सहारा लेकर वर्तमान प्रश्नों को समाज के सामने लाती हैं। इतना ही नहीं समाज में हाशिए पर रख दिये गए महान साहित्यकारों को भी अपने नाटक में जगह देती हैं।

21वीं सदी की दो समस्याएँ पूरे विश्व को दहला रही हैं। पहला आतंकवाद, दूसरा घरेलू हिंसा। मीरा कांत ने इन दोनों समस्याओं को भी अपने नाटकों में

उठाया है। 'काली बर्फ' और 'अंत हाजिर हो' क्रमशः इसके उदाहरण हैं। समय की शिला पर अवश्य ही मीरा कांत का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा।

1. ईहामृग

ईहा अर्थात् इच्छा या मृगमरीचिका पूरी होकर भी नहीं होती क्योंकि जब यह इच्छा भी हो जाये तो उस रूप में पूर्णतः नहीं होती जिस रूप में हम चाहें। इस नाटक का पहला गीत इसी होने-न-होने, होकर न होने की स्थापना करता है—जीवन की इस मृगभूमि में तृषा-तृप्ति बस मृगतृष्णा है।¹

ईहामृग के पृष्ठाधार के ताने-बाने को इतिहास के ताने-बाने से बुनने का प्रयास किया गया है। यह दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की समयावधि है जब आज की महारौली के आस-पास की दिल्ली पर तोमरवंश छाया हुआ था। नाटक में पंचतत्वों में संतुलन के सिद्धांत के इर्द-गिर्द घूमकर स्वभाव और मानव-संबंधों की गहराई नापता है। इन पंचतत्वों में जो पांचवां तत्व आकाश है वह भी कभी-कभी ईहा मात्र प्रतीत होता है क्योंकि चार्वाक के अनुसार यह प्रमाण नहीं अनुमान है। नाटक के पूर्वरंग में मनस्थली कहती है "ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि के ये पाँच स्तंभ डगमगा गए हैं। बदल रहा है उनका आपसी संबंध जिनकी प्रतिध्वनि दूर-दूर तक पहुँचती है।... बात बस संतुलन है... कब, कहाँ, कितना!"²

¹ ईहामृग, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, संस्करण 2011, पृष्ठ

² वही, पृष्ठ 17

नाटक के पात्र—चाहे वह स्नेहगंधा हो, अनिबद्ध हो या कुमारिल दत्तात्रेय हों—सभी प्रायः आस्था—अनास्था के द्वन्द्व में उलझे हैं। 'उद्गीथ' में मीरा कांत लिखती हैं—

“मन जब दोनों स्थितियों के बीच कहीं ठहरना चाहे, स्थापित होना चाहे तो एक समास बनता है— द्वन्द्व समास। यह द्वन्द्व—समास आधुनिक जीवन की भिन्न—भिन्न स्थितियों को एक साथ अंगीकार करना चाहता हो।”³

वस्तुतः ईहामृग रिशतों की गहराइयों को नापने वाला नाटक है। सत्य और मिथ्या के बीच नारी मन की अंतर्व्यथा को यह प्रस्तुत करता है। स्त्री प्रधान इस नाटक में स्त्री—विमर्श के स्फुल्लिंग भी इसी तासीर के हैं। स्त्री की निरभिव्यक्तियों के दंश को अधिक सारगर्भित स्वर में प्रकट करती है सिक्तछाया जो स्त्री—विमर्श की पुरवाई है— “तुम अपनी माँ की पीड़ा का फल हो इसीलिए ऐसा अनुभव करते हो अन्यथा स्त्री की वेदना भी उसी की तरह प्रायः स्वर नहीं पाती है... घुट—घुट कर मर जाती है।”⁴

दसवीं शताब्दी के फलक पर अंकित इस कथा में स्नेहगंधा बीसवीं शताब्दी की स्वतंत्र व्यक्तित्वकामी स्त्री—विमर्श की पताका बनकर नहीं आ सकती थी। उसका सहज ज्ञानात्मक संवेदन अथवा संवेदनात्मक ज्ञान बहुत हल्के स्ट्रोकस में ही स्वयं को रूपायित करता है। कुमारिल को संबोधित करते हुए एक अवसर पर वह

³ वही, पृष्ठ 18

⁴ वही, पृष्ठ 80

एक संकेत भर देती है— “प्रेम करने वाले नारी मन के अन्तर्द्वन्द्व और वेदना को तुम नहीं समझ सकते शिल्पी।”⁵

यह नाटक स्त्री-विमर्श के अतिरिक्त सर्जक-सर्जना की दार्शनिक विचारधारा का भी वातायन खोलता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्नेहगंधा : जो मुझे यहाँ तक खींच कर लाई वह तुम्हारी कला थी.... प्रस्तर में उकेरी गई वेदना थी.... परंतु मैं यहाँ हूँ... तो नहीं जानती कि क्या केवल कला के लिए हूँ?

कुमारिल : सृजन को सर्जक से अलग क्यों करती हो... मैं तुममें तुम्हारे सपनों का बुनना और तार-तार होना दोनों को पाता हूँ अंतर्मन का यह द्वन्द्व ही तो जीवन को सहृदयता से देखने की दृष्टि देता है सुमना।⁶

वस्तुतः ईहामृग मीरा कांत की आत्मा का आईना है। यह आईना दर्शन के प्रतिबिंब में अपने आप को पूर्ण पाता है। साथ ही मीरा कांत के काव्यात्मक मन और रागात्मिका वृत्ति को इतिहास व वर्तमान के द्वन्द्व में तौलता है। वैचारिक दर्शन को नई ऊँचाई देने में सर्वथा प्रस्तुत यह नाटक मानव मन की परतों को अध्यात्म व दर्शन के तंतुओं से समझने का प्रत्यन्न कराता है।

⁵ वही, पृष्ठ 84

⁶ वही, पृष्ठ 94

2. नेपथ्य राग

‘नेपथ्य राग’ सदियों से नेपथ्य में रही नारी की कथा है जो समाजरूपी रंगमंच के केन्द्र में आने के लिए संघर्षरत है। ‘खना’ नामक पात्र के माध्यम से नाटककार ने यह दर्शाने की कोशिश की है कि एक विदुषी नारी को पुरुष समाज स्वीकृत करने से कतराता है। दुर्भाग्यवश खना जैसी प्रतिभाशालिनी ज्योतिषी को पुरुष सत्ता स्वीकृत नहीं कर पाता। “चौथी-पांचवीं शताब्दी की खना हो या इक्कीसवीं शताब्दी की आधुनिक मेधा-सबकी जिंदगी और नियति पुरुष की सत्ता तथा इच्छा से निर्धारित परिचालित होती है।”⁷

नाटक का पृष्ठाधार है चौथी-पांचवीं शताब्दी की उज्जयिनी जब वहाँ मालवगणनायक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। इसी समय एक ग्रामबाला खना की ज्ञान-प्राप्ति की तृषा उसे साहित्य व कला के धाम उज्जयिनी ले आती है। अपनी विलक्षण बुद्धि एवं एकनिष्ठ जिज्ञासा के कारण उसे प्रख्यात ज्योतिषाचार्य वराह मिहिर का शिष्यत्व प्राप्त होता है। शीघ्र ही परिस्थितियाँ उसे वराहमिहिर की पुत्रवधु बना देती हैं क्योंकि उनका पुत्र पृथुयशस खना के ज्ञान से ढंके अक्षत सौन्दर्य के प्रति आसक्त है। विक्रमादित्य भी ज्ञान के आलोक से दीप्त इस व्यक्तित्व की ओर बहुत तेजी से आकृष्ट होते हैं। वे खना देवी को अपनी राजसभा में एक सभासद के रूप में अलंकृत करना चाहते हैं। यहीं पुरुष प्रधान समाज के प्रतिनिधि नवरत्न इस प्रयास को अपने कुटिल चातुर्य से ध्वस्त कर देते हैं। इससे भी अधिक

⁷ रंग प्रसंग, जुलाई-सितंबर 2007, पृष्ठ 41

दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि स्वयं खना के गुरु और श्वसुर आचार्य वराह मिहिर तटस्थ रहकर इस षड्यंत्र के एक सक्रिय कारक बनते हैं।

नाटक प्रतीकात्मक है क्योंकि वैचारिक अभिव्यक्ति से रहित स्त्री ही समाज को स्वीकार्य रही है। यह दृष्टिकोण पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारंपरिक रूप से शताब्दियों से बहता चला आया है और इसने जनमानस में अपनी जमीन तलाश ली है। इसी जमीन पर समय-समय पर कहीं-कहीं फटते हैं पौधे दर्द के, चुभन के इस एहसास के कि शखनाश शताब्दियों पहले भी नेपथ्य में थी और आज भी सही मायने में नेपथ्य में ही है।⁸ आज स्वतंत्र भारत में नारी शिक्षा, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी है तब भी नेपथ्य में पड़ी हुई है। इस नाटक में किसी फिल्म की पटकथा के अध्ययन की अनुभूति होती है। इस नाटक में देश काल के अनुकूल ही पात्रों का चयन किया गया है। उनकी वैचारिक सरणियों को उन्हीं के अनुकूल भाषा-शैली एवं शब्द-संयोजन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सारे कथोपकथन पात्रानुकूल हैं, जो बड़े ही मार्मिक हैं। मीरा कांत ने अनेक काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना कर नाटक की कथावस्तु को परिपुष्ट किया है। उदाहारण के लिए—

पृथुयशस : (आश्चर्यमिश्रित दुःख के साथ) अब तुम कहाँ खो गयी... कैसा संयोग है यह जो वियोग की छाया से घिरा हुआ है!

⁸ पल्लेप से, नेपथ्य राग, दूसरा संस्करण 2006, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

खना : (पृथुयशस को दुःख से उबारने का प्रयत्न करते हुए) संयोग तभी पूर्ण होता है, जब वियोग भी हो। वियोग में संयोग की प्रतिध्वनि ही गूंजती है..... अनुगूंज बनकर!⁹

इस नाटक का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि नारी नेपथ्य में पड़ी हुई नारी होने का दर्द और दंश झेलती है।¹⁰

यह नाटक वस्तुतः सदियों से स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार को एक नया आयाम दे देता है। नाटक के अंत में मेधा की माँ मेधा को कहती है कि खना की जबान काट दी गयी थी। और कुछ का मानना है कि उसने अपने परिवार और श्वसुर को अपमान से बचाने के लिए अपनी जबान खुद काट ली थी। इसी कड़ी में मेधा और दादी का प्रसंग इस प्रकार है—

दादी : (स्वर में उत्साह) अरे वो अपनी जबान खुद क्यों काटती भला! मेरी

दादी तो कुछ और ही कहती थी।

मेधा : (आश्चर्य से) आपकी दादी! क्या?

दादी : यही कि खना की जबान तो खुद बराह मिहिर ने ही काटी थी!

मेधा : क्या बराह मिहिर ने?

दादी : (बाल सुलभ स्वर में) अब मैं क्या जानूँदादी कहती थी!¹¹

⁹ नेपथ्य राग, पृष्ठ 31

¹⁰ प्रो. अवध किशोर प्रसाद, वार्षिकी 2004, भारतीय साहित्य सर्वेक्षण, पृष्ठ 157

¹¹ नेपथ्य राग, पृष्ठ 63-64

डॉ. जयदेव तनेजा के शब्दों में—

“नेपथ्य राग मीरा कांत का एक गंभीर और महत्त्वपूर्ण नाटक है। यह अतीत और वर्तमान के बीच सतत् बहती काल—सरिता के दो किनारों को जोड़ने वाले सेतु—सी एक आधुनिक नाट्यकृति है।”¹²

आज इक्कीसवीं सदी की तमाम उदार—खुली वैचारिकता और समान अधिकारों—अवसरों वाली जनतांत्रिक स्वतंत्रता—आधुनिकता के बावजूद स्त्रियों को आरक्षण की जरूरत है और किसी भी दल के प्रत्यक्षतः उससे असहमत न होने के बावजूद वर्षों से कोई न कोई तर्क, कारण या बहाना बताकर उस बिल को संसद में पेश तक नहीं किया जा सका है। प्रगतिशील बौद्धिक पुरुष—समाज भी अपने विचारों और संस्कारों में तालमेल नहीं बैठ पाया है। हाँ अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए उसने स्त्री दमन एवं शोषण के नए तरीके जरूर सीख लिए हैं और उनके आक्रामक तेवरों तथा आंदोलनों तक को अपने स्वार्थ एवं हित—रक्षण के पक्ष में इस्तेमाल कर रहा है। आज भी राज और समाज में, कुछेक अपवादों के बावजूद, स्त्री की वास्तविक स्थिति कमोबेश ‘खना’ की नियति जैसी ही है। बाहर से कुछ भी दिखाई दे पर भारत/विश्व की कुल जनसंख्या के पचास प्रतिशत नारी समाज के मुकाबले वह संख्या निश्चय ही नगण्य जैसी ही होगी।

वैसे भी, वास्तविक तथ्य या यथार्थ के मुकाबले रचना का सच हमेशा बड़ा होता है, बशर्ते उसे रचनाकार ने विश्वसनीय और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया

¹² परिकथा, जुलाई—अगस्त 2007, पृष्ठ 84

हो। इस दृष्टि से 'नेपथ्य राग' का कथ्य पूरी तरह प्रासंगिक और प्रामाणिक है। इस नाटक को मोहन-राकेश सम्मान मिलना अपने आप में इसकी विशिष्टता और उपलब्धि भी है।

3. भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर

'भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर' आधुनिक एकांकी के जनक भुवनेश्वर प्रसाद के जीवन और उनके कृतित्व के यहाँ-वहाँ बिखरे धागों के ताने-बाने से बुना गया नाटक है। मीरा कांत का यह नाटक उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि भर नहीं है, बल्कि उन पर केन्द्रित होते हुए भी उनसे आगे निकलकर युगों से निरंतर बहती हुई 'भुवनेश्वर-परंपरा' को प्रकाश में लाने का प्रयास है। कहने का तात्पर्य है कि भुवनेश्वर की साहित्य-प्रतिभा को वह जगह नहीं मिली जिसके वे हकदार थे। आज भी ऐसे कई साहित्यकार हैं जिन्हें वह सम्मान व पहचान नहीं मिल पा रही है। एक तरह से उनकी प्रतिभा नेपथ्य में है। मीरा कांत तो स्त्री विमर्श की सशक्त नाटककार हैं ही लेकिन भुवनेश्वर जैसे उपेक्षित साहित्यकार पर लेखनी चलाकर सही मायनों में लोकतांत्रिक समाज में 'समानता के अधिकार' पर उन्होंने सवालिया निशान लगा दिया है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि 1936 में लखनऊ में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने केवल दो लेखकों का नाम लेते हुए

कहा था, “यदि जैनेन्द्र में दुरुहता और भुवनेश्वर में कटुता कम हो, तो इनका भविष्य उज्ज्वल है।”¹³

यह प्रेमचंद ही थे जिन्होंने सबसे पहले इनके एकांकी अपने पत्र ‘हंस’ में प्रकाशित किए और एकांकी संग्रह के प्रकाशित होते ही उसकी विस्तृत समीक्षा भी लिखी। प्रेमचंद के अनुसार— “भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बातें कहने की शक्ति है, मर्म को हिला देने वाली वाक् चातुरी है। काश, वह इसका उपयोग ‘एक साम्यहीन साम्यवादी’ जैसी रचनाओं में करते। आँकर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वह उसके दुर्गुणों को नहीं छोड़ सकते।”¹⁴

उनकी प्रतिभा की बानगी एक उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य है—

अभिनेता : अच्छा सुनो... चलो मैं तुम्हें आज भोजन करा देता हूँ।

भुवनेश्वर : (अत्यधिक गुस्से से) भोजन कराओगे... क्या भिखारी समझ रखा है? मुझे... भोजन कराओगे और हर निवाले के साथ एक नसीहत भी ढूस दोगे.. (अभिनय करते हुए) भुवनेश्वर ये दुनिया है... ऐसे मत करो... वैसे मत करो... कड़वा सच मन में रखो... ऊपर से चापलूसी करो... अपना फायदा देखो... नहीं चाहिए तुम्हारी नफे—नुकसान वाली दुनिया...¹⁵

यह हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य है कि भुवनेश्वर सरीखी अप्रतिभा प्रतिभा को समय पर पहचान न सका और जिसका दुष्प्रभाव उनके व्यक्तिगत जीवन तथा

¹³ भुवनेश्वर, गिरीश रस्तोगी, साहित्य अकादेमी मोनोग्राफ, पृष्ठ 43

¹⁴ प्रेमचंद, हंस, जून 1935, पृष्ठ 72—74

¹⁵ भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, दृश्य—पांच, पृष्ठ 45

हिन्दी साहित्य दोनों पर पड़ा। यह नाटक भुवनेश्वर के जीवन का इतिवृत्त या घटनाक्रम का क्रमिक वर्णन नहीं है। इसमें उनके जीवन व साहित्य के वे मोड़ और स्तंभ हैं जिनसे गुजरता हुआ एक युवा जीनियस भुवनेश्वर प्रसाद धीरे-धीरे 'पगला भुवनेश्वर' हो जाता है। यह एक छोटा सा प्रयास है इस नाटक में इस बिंदु को उजागर करने के लिए कि कैसे एक असाधारण प्रतिभा विरोध सहते-सहते असमान्य हो जाती है और बदले में मिलता है साहित्य की दुनिया का हाशिए का भी हाशिया, जो अंततः उसे एक साहित्यिक अछूत बनाता है।

सुषमा भटनागर लिखती हैं—

“सवाल यह है कि आज भुवनेश्वर क्यों? जब उपेक्षितों की पीड़ा को स्वर दिया जा रहा हो तब समूहवाचक के साथ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को याद करना भी आवश्यक हो जाता है। भुवनेश्वर प्रसाद का रचना संसार हिन्दी साहित्य की आधुनिक संवेदना की पहली टंकार थी जो निनाद बनने से पहले ही विलीन हो गई।”¹⁶

भुवनेश्वर हिन्दी नाटक का ऐसा अंक है जिन्हें नाट्येतिहास में कुछ कम ही स्पेस प्राप्त हुआ। यह सोच कर कितना क्लेश होता है कि आधुनिक हिन्दी एकांकी और एब्सर्ड (असंगत) नाटक के जनक को हमने उल्लेख भर की जगह दी। इस प्रतिभा को जब उस युग की कुछ शीर्ष हस्तियों ने पश्चिम का ढोंगी नक्काल कहा होगा जो उनके जी पर क्या गुजरी होगी, गुजरती होगी? अपने विरुद्ध एक

¹⁶ भूमिका से, भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, पृष्ठ 7

अघोषित युद्ध को कैसे झेला होगा भुवनेश्वर प्रसाद ने, जिन्हें स्कूल के दिनों में ही अध्यापक 'फिलॉसफर' कहकर पहचानते थे। लक्ष्मीकांत वर्मा उनके व्यक्तित्व और साहित्य की विशेषता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं—

“शिवत्व और लोकत्व के ये दोनों रूप भुवनेश्वर में समानान्तर मिलेंगे। कला में, नाटक में, कविताओं में, चित्रों और पेंटिंग्स में भुवनेश्वर का लोक तत्व गरिमामय है, पर उसमें शिवत्व उस श्मशान-सेवी की आँच में सीझता है, जो स्वयं अपने आपको नकार कर सृजन या निर्माण करता है।”¹⁷

दरअसल भुवनेश्वर अकेले ही हुआ करते हैं, अकेले ही मरा करते हैं। जिस दोस्ती और जिन दोस्तों का भुवनेश्वर तकिया करते हैं वो दरअसल जान छुड़ाने की दलीलें हुआ करती हैं, नहीं तो ऐसी प्रतिभा को असामान्य होने के कगार तक ले जाने वाली उदासी और निराशा क्यों घेरती? हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार, संपादक कवि रघुवीर सहाय ने कहा है— “लखनऊ के कॉफी हाउस में एक पस्ताकद, साँवला-सा दुबला-पतला आदमी छोटी-छोटी पैनी आँखें और साफ-सुथरा लहजा-कई दोस्तों से घिरा हुआ बहस का केन्द्र बना हुआ बैठा है। वे उसके तर्कों से थोड़ी देर में परास्त हो जाते हैं, कभी-कभी तंग भी। मगर उसके बहस के तरीके में इतनी कशिश है कि किसी को उठकर जाने का मन नहीं होता।”¹⁸

एक असाधारण प्रतिभा को असामान्य/पागल बना देने वाली परिस्थितियों तथा साहित्यिक चालबाजियों को भी इस नाटक में बेपर्दा किया गया है। भुवनेश्वर

¹⁷ भुवनेश्वर, गिरीश रस्तोगी, साहित्य अकादेमी मोनोग्राफ, पृष्ठ 13

¹⁸ हंस, मार्च 1989, साभार, भुवनेश्वर, मोनोग्राफ, पृष्ठ 15

के मुँह से कहलवाया गया यह संवाद कि “क्या तुम्हारे साहित्य में अब तक यह मुहावरा नहीं चला—भुवनेश्वर की मौत मरना (स्वगत) ऐसा भी नहीं होने देंगे वे लोग।” अपने ईर्ष्यालु समकालीनों, आतंकित मठाधीशों और पूर्वग्रही आलोचकों—इतिहासकारों पर तीखा व्यंग्य करने के साथ—साथ भुवनेश्वर की पीड़ा, कटुता, घृणा, त्रासदी, विडम्बना और आक्रोश की अत्यंत प्रभावी अभिव्यक्ति करता है। भुवनेश्वर—दर—भुवनेश्वर में नाटककार ने यथार्थ और फैंटेसी तथा अतीत वर्तमान के कल्पनाशील ताने—बाने से एक दिलचस्प और उत्तेजक रंगमंचीय नाटक की रचना की है।¹⁹

भुवनेश्वर पूर्णतः अलक्षित रहे हों, ऐसा भी नहीं। हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने, जो उनके मित्र—परिचित रहे उन पर मरणोपरांत अवश्य लिखा, पर उनके कृतित्व पर दरअसल कोई बड़ा काम नहीं हुआ। आधुनिक हिन्दी एकांकी के इस जनक को उस तरह याद नहीं किया गया जैसे किसी जमाने में मुक्तिबोध को सिर आँखों पर बिठाया गया। यहाँ तक कि राष्ट्रीय स्तर पर नाटक का मंच संभालने वालों ने भी हिन्दी के इस श्इब्सनश को नेपथ्य में ही रहने दिया। ‘भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर’ उन्हीं छूटी हुई कड़ियों की खोज है—

भुवनेश्वर : विमाता की बात करते हो। विमाता क्या सिर्फ विमाता होती है? और उनका क्या जो जीवन में कदम—कदम पर आपके साथ विमाता—सा व्यवहार करते हैं? आपकी प्रतिभा को मेहनत को सायास कुचल देते हैं... आपकी हस्ती मिटा देने

¹⁹ जयदेव तनेजा, रंग प्रसंग (जुलाई—सितंबर 2007), अंक—27, पृष्ठ 42

का प्रण करते हैं.... क्या वो विमाता नहीं? वो साजिश कि कोई पत्र-पत्रिका मेरा लिखा एक शब्द न छापे क्या वो विमाता का क्या वो विमाता का व्यवहार नहीं था?’²⁰

प्रस्तुत नाटक कविता के बारे में कविता की शैली में नाटक की जबानी नाटक है। भुवनेश्वर के जीवन का इतिवृत्त पेश न करके स्वयं उनके नाटकों के संवाद चुनकर तो कहीं उनके अपने बयानों के जरिए भुवनेश्वर परंपरा की दास्तान सुनाई गई है। इस रूप में यह एकांकी नाटक सार्वकालिक यथार्थ का रोजनामचा है। अपने आप में यह एक नया प्रयोग है जिसमें भुवनेश्वर के जीवन के वे अंश लीला शैली में नहीं दिखाए गए जो मंच पर उनका कद छोटा कर सकते थे। वस्तुतः यह भुवनेश्वर विचार-वीथी है, उस राह पर आगे बढ़ने वालों की त्रिकालगाथा है।

4. कंधे पर क्यों बैठा शाप

मीरा कांत का नाटक 'कंधे पर क्यों बैठा था शाप' उन छूटे हुए, अव्यक्त पात्रों एवं स्थितियों की अभिव्यक्ति है जो या तो साहित्यिक मुख्यधारा का अंग न बन सकी या फिर उसकी सरहद पर रहीं। यह नाटक कालिदास के अंतिम दिनों, अंतिम उच्चरित शब्दों, अंतिम पद्य-रचना, उनके प्रायः विस्मृत मित्र कवि कुमारदास और उस मित्र प्रेम-प्रसंग के माध्यम से स्त्री-विमर्श का एक नया वातायन खोलता

²⁰ भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, पृष्ठ 42

है। स्त्री-विमर्श की एक अन्य परत है विद्योतमा, जो एक बार दंडित की गयी विदुषी होने के कारण और दूसरी बार तिरस्कृत हुई सम्मान के नाम पर।

‘कंधे पर क्यों बैठा था शाप’ मूलतः ‘श्रूयते न तु दृश्यते’ (सुना हुआ अनदेखा) का हिन्दी अनुवाद है। यह नाटक महाकवि कालिदास के विडम्बनापूर्ण देहांत की त्रासदकथा पर आधारित है। साथ ही कल्पना के सहारे तत्कालीन स्थितियों और चरित्रों के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक अध्ययन विश्लेषण का गंभीर प्रयास करता है।²¹

मीरा कांत के अनुसार—

“मृत्यु जीवन का एक निश्चित सत्य है। कालिदास के जीवन का यह निश्चित सत्य प्रकाश में कभी नहीं आ पाया। इतिहास में अगर यहाँ-वहाँ फुसफुसाते हुए जनश्रुति के बहाने ही आया भी तो साहित्य ने इस पर महामोन की मुद्रा धारण की।”²²

मीरा कांत ने संस्कृत महान कवि-नाटककार कालिदास के जीवन के एक सर्वथा उपेक्षित पक्ष, देहान्त और उसके कारणों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। हालांकि वे इसे जनश्रुति ही कहती हैं, किन्तु कालिदास के जीवन के इस अंधकारमय पक्ष को उठाने के पीछे का कारण कुछ और ही है। सिंहलद्वीप नरेश और संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ ‘जानकीहरणम्’ के रचयिता कुमारदास की गणिका कामिनी का लोभ में आकर कालिदास की हत्या के प्रसंग के माध्यम से

²¹ परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 86

²² भूमिका, कंधे पर बैठा था शाप, पृष्ठ 11

नाटककार ने एक नया ही विमर्श छेड़ दिया है। गणिका कामिनी, जो एक अपराधिनी है, लेखिका उसके अपराध को अपराध न कहकर कामिनी का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करने लगती हैं। वे भूमिका में लिखती हैं—

“इस पक्ष पर विचार क्यों नहीं होता कि स्त्रियों द्वारा किये गये अपराध प्रायः स्त्रियों पर किये जाने वाले अपराधों का ही प्रतिरूप होते हैं।”²³

मीरा कांत ने इस नाटक में जो स्त्री-प्रश्न उठाया है, वह पाठकों को तिलमिला देने वाला होता है—

सुमित्रा : (घबराकर) पर यह तो गणिका धर्म के विरुद्ध हुआ।

राजम्मा : धर्म-अधर्म समझाओगी तुम मुझे? कौन-सा धर्म? वही जो समाज में निर्बल-निर्धन बालिकाओं को अपने हित के लिए गणिका बना देता है? और तुम्हारे माता-पिता ने जो किया वह क्या था? धर्म या अधर्म?²⁴

वस्तुतः मीरा कांत नाटक में राजम्मा के माध्यम से इस बात को भी प्रस्तावित करती हैं कि अंतिम रूप में भी इतिहास कालिदास और कुमारदास की गौरव गाथा को ही बखानती है, जबकि गणिका का पक्ष गौण, अनसुना ही रह गया।

मीराकांत की भाषा बहुत ही सधी है। नाट्यवस्तु के अनुरूप उन्होंने भाषा रखने की कोशिश की है। तत्सम प्रधान होने के बावजूद उसकी सहजता-सरलता मोहक और आकर्षित करने वाली है। मुहावरों का प्रयोग भाषा की धार को बेहद

²³ भूमिका, कंधे पर बैठा था शाप, पृष्ठ 15

²⁴ वही, पृष्ठ 46-47

नुकीला बना देते हैं। मसलन, 'हम गणिकाएं हल्दी का रंग होती हैं। जिहवा पर लगती हैं पर चढ़ती नहीं। इस मुहावरे में व्यंग्य और अतीत से चली आ रही यातनाओं की श्रृंखला जीवंत हो उठती हैं।²⁵

पुरुष प्रधान समाज में नारी की स्थिति कितनी दयनीय है, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। आज भी वेश्यावृत्ति के लिए समाज सिर्फ स्त्रियों को दोषी मानता है। उसे ही सजा देता है। इसलिए इस प्रसंग पर भी मीरा कांत अपनी उंगली रखती हैं कि वेश्या भी समाज का एक हिस्सा हैं। स्त्री या तो दासी होती है या देवी या भोग्या। पुरुष समाज उसे हर मोर्चे पर सहयात्री के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। यह विडम्बना है। मीरा कांत ने इसे शिद्धत से उठाया है। नाटक न तो ऐतिहासिक है, न ही इसकी ऐतिहासिकता महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण है स्त्री-प्रश्न जिसे अनदेखा किया जाता रहा है।²⁶

एक उदाहरण—

कालिदास : किसकी पंक्ति है यह..... और यूँ अधूरी क्यों?

कामिनी : अधूरी क्यों न होगी..... मेरा आधा-अधूरा भाग्य ही तो है यह!²⁷

वस्तुतः मीरा कांत के नारी-विमर्श का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि देश-काल चाहे कोई भी हो बुद्धिमती-विदुषी स्त्री को पुरुष-समाज कभी सह नहीं पाता। 'नेपथ्य राग' में चौथी-पाँचवी शताब्दी की खना हो या बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी

²⁵ लोकायत, 16-31 दिसंबर 2007, पृष्ठ 44

²⁶ इंडिया टुडे, 4 अप्रैल 2007, पृष्ठ 43

²⁷ कंधे पर क्यों बैठा था शाप, पृष्ठ 42

की मेधा, 'कंधे पर क्यों बैठा था शाप' की विद्योतमा हो या कामिनी-सबकी जिंदगी और नियति इसी अभिशाप से निर्धारित और परिचालित होती है। आज के आक्रामक स्त्री-विमर्श और स्वच्छंदतावादी आधुनिकता के बावजूद बुनियादी स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। हाँ, समयानुसार पुरुष द्वारा स्त्री को अपने हक में इस्तेमाल करने के तरीके जरूर बदल गए हैं।

5. मेघ-प्रश्न

'मेघ-प्रश्न' कालिदास विरचित श्लेषदत्त के कथा-तत्त्व के अंतिम सिरे का कल्पना की पोरों से उठाकर एक भिन्न व सर्वथा नई वीथि की ओर बढ़ाने का सुंदर प्रयास है। यह नाटक संदेश काव्य के सर्वाधिक सशक्त कारक मेघ की निजी व्यथा का यक्ष-प्रश्न सामने रखता है। कालिदास का सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'मेघदूतम्' जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से मीरा कांत अपने इस नाटक की शुरुआत करती हैं।

आज के इस उत्तर आधुनिक युग में उनका यह सोचना बिल्कुल सही है कि 'साहित्य का एक प्रयोजन विस्मृत मानवीय संवेदनाओं व करुणा तथा उपेक्षित चरित्रों की पीड़ा को प्रकाश में लाना भी है।' उनका यह प्रश्न भी जायज है और जरूरी भी कि अपनी प्रिया विद्युता से मिलन को आतुर चिर प्रतीक्षित मेघ की विरह वेदना और मौन-व्यथा को महाकवि कालिदास क्यों महसूस नहीं कर सके? इसलिए मीरा कांत ने 'मेघदूतम्' के उस अभिशाप दूत को अपनी रचना का नायक बनाकर उसकी मर्मांतक व्यथा को अभिव्यक्ति दी है।²⁸

²⁸ परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 87

इस लघु नाटक में मीरा कांत ने यह दर्शाया है कि कालिदास ने 'मेघदूतम्' में यक्ष की करुणा से तो तादात्म्य स्थापित किया लेकिन उसके संदेशवाहक मेघ से नहीं, जबकि उसके अंदर भी अपनी प्रेमिका विद्युता से मिलने की उत्कंठा थी। इसमें अलकापुरी के माध्यम से भौतिकवादी विकास, समृद्धि और वैभव को भी प्रश्नांकित किया गया है। 'सुख दृष्टिहीनता उत्पन्न करता है'— यह संदेश महत्वपूर्ण है। पूंजीवादी व्यवस्था के बढ़ते रूप को यहाँ पौराणिक आख्यान के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है।²⁹

इस नाटक में नारी हृदय की पीड़ा को, उसकी वेदना को नाटककार ने शिद्धत के साथ पेश किया है—

यक्ष : बात को यों टालो मत बन्धु। यक्षिणी ने जो उस दिन अनुभव किया क्या वह सच है?

मेघ : (कहीं खोते हुए) लोग सही ही कहते हैं, स्वयं पीड़ा में दग्ध होते हुए भी दूसरे की पीड़ा की थाह नारी हृदय ही पा सकता है।³⁰

नाटककार मेघ के माध्यम से उस उपेक्षित वर्ग की बात कर रहीं हैं, जो सत्य के निर्माण के समय सायास हाशिए पर छोड़ दिए गए।

²⁹ लोकायत, 16-31 दिसम्बर, 2007, पृष्ठ 44

³⁰ मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 77

‘मेघ-प्रश्न’ अतितृप्ति से अघाए हुए इस युग को याद दिलाने का एक प्रयास है कि तृप्ति को गहराई देने के लिए, उसका मोल समझने के लिए संतुलन आवश्यक है।³¹

नाटककार यक्ष के माध्यम से कहलवाती हैं—

यक्ष : अलकापुरी में रहकर हम जीवन का केवल एक पक्ष जान पाते हैं और वह सुख... परंतु अत्यधिक और केवल सुख के कारण हम उस सुख का वास्तविक मोल नहीं जान पाते।³²

इस प्रकार कालिदास के ‘मेघदूतम्’ में जो पात्र अंत मौन धारण किये रहता है, ‘मेघ-प्रश्न’ में भी उसी नायक मेघ का महामौन समाप्त कर उसे वाणी प्रदान की गयी है। ‘मेघदूतम्’ एक-उदात्त कथा है। जिसमें विरह से, दुःख से यक्ष की प्रेमानुभूति का परिष्कार किया गया है। ‘मेघ-प्रश्न’ इस परिष्कार को परिणति तक पहुँचने की ओर कदम बढ़ाता है। साथ ही, कालिदास ने मनुष्य के जीवन का जिस प्रकृति से अटूट संबंध स्थापित किया था उसी प्रकृति का एक अंग मेघ आज ‘मेघ-प्रश्न’ में मानव से आपे प्रति उत्तर-दायित्व की सांकेतिक माँग भी करता है।

6. काली बर्फ

‘काली बर्फ’ पूरी तरह से कश्मीर के समकालीन हालात पर लिख गया प्रासंगिक नाटक है जो आतंकवाद से पीड़ित एवं विस्थापित लोगों के दर्द को बड़ी

³¹ भूमिका, मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 64

³² मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 85

शिद्धत और संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है। कश्मीरी भाषा में 'काली बर्फ' (क्रुहुन शीन) एक मुहावरा है जिसका अर्थ अनहोनी, जो कभी नहीं होती।³³

पंद्रह दृश्यों का यह नाटक आद्यन्त वर्तमान और अतीत में आवाजाही करता है। इसके लिए लेखिका ने मंच पर एक ओर गिरे हुए चिनार के पेड़ के तने का, कश्मीर के पलैश बैंक के दृश्यों के लिए, बड़ा प्रतीकात्मक और खूबसूरत प्रयोग किया है। वर्तमान में से अतीत वर्तमान की स्मृतियाँ दृश्य बनकर उभरती हैं और वह दृश्य वर्तमान में विलय हो जाता है। यह दिलचस्प रंगयुक्त कल और आज को छोड़कर आजकल में तब्दील कर देती है और समय के एक अनवरत-अखंड प्रवाह का अहसास दिलाती है।³⁴

यह नाटक एक ऐसे कश्मीरी पंडित के परिवार के कहानी है, जो कश्मीर में बढ़ते आतंकवाद के चलते विस्थापितों का जीवन जीने के लिए मजबूर है, किन्तु जिसने कश्मीर और अपनी जमीन पर वापस लौटने की उम्मीद अभी नहीं छोड़ी है। आतंकवाद में अपने बड़े बेटे-बहू को कश्मीर छोड़ने का विवश हो जाते हैं, किन्तु उनके भीतर कहीं हालात सुधरने और वापस लौटने की उम्मीद बाकी है।

मीरा कांत का नाटक 'काली बर्फ' कश्मीर समस्या का एक चिरपरिचित पाठ है। चिरपरिचित इस अर्थ में कि उसमें विषय राजनीतिक समीकरण के रूप में न

³³ भूमिका, काली बर्फ, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 91

³⁴ परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 87

होकर पारिवारिकता के प्लॉट के रूप में है। इस प्लॉट में एक विस्थापित वर्तमान और असंख्य स्मृतियों से युक्त अतीत है।³⁵

इस नाटक की एक विशेषता है कि इसमें कई फ्लैशबैक हैं। इस बाबत मीरा कांत का कहना है “हम कश्मीरियों का जीवन कई फ्लैशबैक से गुजरता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से नाटक में भी फ्लैशबैक दिखाया गया है।”³⁶

शारिका : मजाक छोड़ो चमन... तुम थे कहाँ? (गंभीर हो जाता है मगर चुप है)
पढ़ाई को इतना लाइटली क्यों ले रहे हो? फाइनल इयर है तुम्हारा।

चमन : (गंभीर स्वर में) जब माँ का आँचल जल रहा हो तो पढ़ाई कैसी!

शारिका : तो तुम अकेले इस आग को बुझा लोगे?³⁷

वस्तुतः ‘काली बर्फ’ एक ऐसा नाटक है जिसकी जड़ में आतंकवाद है। इस आतंकवाद से पूरा विश्व तबाह है। विश्व के कोने-कोने से लोग अपनी जमीन से दर-बदर हो रहे हैं। यह नाटक डायस्पोरा के दर्द को उभारता है। कश्मीर से लगातार विस्थापित हो रहे लोगों के दर्द को इसमें कारुणिक अभिव्यक्ति मिली है। विस्थापन आधुनिक समाज की विडम्बना है। देश के अन्य भागों से विस्थापन, गरीबी, अशिक्षा, भुखमरी, पिछड़ापन, गैर-बराबरी, असमानता आदि के कारण हो रही है तो कश्मीर से आतंकवाद के कारण।

³⁵ जनसत्ता 21 फरवरी 2005, पृष्ठ

³⁶ दैनिक जागरण, जागरण सिटी, नई दिल्ली-21, फरवरी 2005

³⁷ काली बर्फ : कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी से), पृष्ठ 102

अपनी परंपरा, प्रकृति, भाषा, समाज, संस्कृति से कटा व्यक्ति मानसिक रूप से विभक्त और कमजोर हो जाता है। यथार्थ और स्मृति में उसका विभाजन हो जाता है। यही यथार्थ और स्मृति पलैशबैक का रूप ले लेता है। एक उदाहरण—
टाठा जी : (परेशान से) कहाँ तलाशें उसे जो अब छूट गया (कहते—कहते मायूस होकर वह भी प्रस्थान करते हैं।)

रूपा : (भारी मन से) हाँ छूट गया... सब कुछ छूट गया... न जाने कहाँ... पर... पर छूट पाया क्या? जी—जान लगाकर छोड़ना चाहें तब भी छूट पाता है क्या?³⁸

मीरा कांत का यह नाटक एक ऐसी स्मृति में बसा है जहाँ उम्मीद की किरणें यह जताती हैं कि बर्फ का कालापन तो ऊपर से उड़ेला गया कालापन है। स्मृतियों की इस जीवित उम्मीद का बरकरार रखते हुए वे कहती हैं— “हर वस्तु मरणासन्न है फिर स्मृतियाँ क्यों नहीं मरती? इन स्मृतियों को एक आस थी फिर से खिलने की, फिर मुस्कराने की। वह आस, जो राशि ने थमायी थी कि कुछ ही महीनों में नन्हा कबीर आनेवाला है। शून्य को शब्द मिल गये थे। स्वप्न स्मृतियों से ही संभव है और स्मृतियाँ स्वप्नों से।”³⁹

इसी स्मृति की अभिव्यक्ति वह दूसरी कहानी में करती हैं— “ऐसा क्यों होता है कि किसी को सब कुछ याद रहता है, किसी को कुछ—कुछ और किसी अन्य को

³⁸ काली बर्फ : कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी से), पृष्ठ 135

³⁹ विसर्जन, कागजी बुर्ज कहानी—संग्रह से, पृष्ठ 110

मनचाहा कुछ आखिर क्या है यह स्मृति? निर्वासन हो या पलायन समय के साथ-साथ यह पीछे छूट गयी तहजीब का चेहरा तक भुला देता है।”⁴⁰

आतंकवाद की वजह से निष्कासन और विस्थापन को दिखाते हुए नाटक इस बात की स्थापना करता है कि यथार्थ की खाइयाँ कितनी भी गहरी और जटिल क्यों न हों, सत्प्रयासों और उम्मीद के सहारे पार की जा सकती है। जो विस्थापन का दर्द भीतर टीस की तरह कसकता है, वह अपनी जमीन पर लोगों का साथ पाते ही आराम पा जाएगा। लेखिका का विश्वास है कि कश्मीर की बर्फ वास्तव में काली नहीं हुई है और ‘बर्फ का यह दूर से दिखने वाला कालापन ऊपर से उड़ला गया कालापन है, सत्यप्रयासों की बारिश से निकट भविष्य में जिसके धूल जाने का सपना हर कश्मीरी के दिल में बसता है।’

7. बहती व्यथा सतीसर

अपने नाम के अनुरूप ‘बहती व्यथा सतीसर’—सतीसर यानी मिथक में सांस लेते कश्मीर की दुरुखगाथा है। एक ऐसी कथा जो व्यथा बनकर बहती हुई मिथक से कहीं दूर इतिहास के जंगलों को पार करती हुई आज की जमीन पर आ पहुँची है। फिर सवाल उठता है कि मिथक क्या है?

“ऐतिहासिक दृष्टि से ‘मिथक’ को अतीत में अटित वास्तविक घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इस तथ्य में तनिक भी संदेह नहीं होना

⁴⁰ स्मृति पिंड, कागजी बुर्ज कहानी—संग्रह से, पृष्ठ 142—143

चाहिए कि हम मिथकों में अपने इतिहास खोज सकते हैं, हमारे देश में इस धारणा का भी पूर्ण विकास है कि पुरावृत्तों में प्राचीन इतिहास के तथ्य इतने घुलमिल गये हैं कि उनको पृथक् करना प्रायः असंभव हो गया है।⁴¹

वहीं दूसरी ओर डॉ. नगेन्द्र इसे संस्कृति का जरूरी हिस्सा मानते हैं—

‘मिथक’ मानव संस्कृति का एक जरूरी हिस्सा है, वह बौद्धिक विवरण अथवा कला प्रतीत न होकर आदिम मनुष्य की श्रद्धा एवं उसके नैतिक विश्वासों का प्रामाणिक गुण है।⁴²

‘नीलमत’ पुराण के एक आख्यान पर आधारित और अग्निशेखर की कविता से प्रेरित मीरा कांत का यह नाटक इस बात को फिर स्थापित करता है कि यथार्थ की जटिल परिस्थितियों में अभिव्यक्ति के लिए मिथक वस्तुतः सीढ़ियों की मजबूत रेलिंग है या किसी छड़ी की मूठ।

पौराणिक मिथक में वर्णित सतीसर अर्थात् सती का सरोवर यानी सतीदेश आज का कश्मीर है।⁴³ यहाँ के नागों और दैत्यों का सौहार्द्रपूर्ण सह अस्तित्व एक उदाहरण बन गया था। विष्णु से हुई नागों व दैत्यों की एक संधि के अनुसार यह सतीदेश देवगणों के लिए निषिद्ध प्रवेश था। परंतु देवगणों ने न केवल अपनी संधि तोड़ी बल्कि एक राजनीतिक षड्यंत्र के तहत नागों व दैत्यों के बीच भेद को जन्म दिया। परिणामतः नागवंशियों को सतीदेश से पलायन करना पड़ा। निर्वासित नाग

⁴¹ डॉ. रमेश गौतम, हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, पृष्ठ 49

⁴² डॉ. नगेन्द्र, मिथक और साहित्य, पृष्ठ 7

⁴³ www.meerarakant.com

अपने पिता कश्यप ऋषि की सहायता से विष्णु की शरण में गए। विष्णु ने नागवंशियों को उनका सतीसर तो लौटा दिया पर जलरहित सतीसर। जल सतीसर को फिर अन्य नदियों से मिल परंतु सतीसर का मूल जल तो उनका जीवन, वहाँ की संस्कृति का प्रतीक था, अब अतीत की स्मृति बन चुका था। वहाँ अब नागों का एकछत्र राज भी नहीं रहा और नागों व दैत्यों के बीच हुई नागों के हित में की गयी संधि भी भंग हो गयी।

इन परिस्थितियों ने नागों के मन में कुछ ऐसे प्रश्नों को जन्म दिया जिन्होंने प्रश्न—चिन्ह लगाया—विष्णु की उदारता पर, उनकी करुणा पर आज का विष्णु भी सतीसरों पर बम गिराकर फिर विमान से रोटियां बरसाता है। इसी करुणा की राजनीति की दर्द भरी करुण गाथा है—बहती व्यथा सतीसर।⁴⁴ यह विष्णु की माया ही है कि इस राजनीति को करुणा ही समझते रहते हैं। इसी प्रकार मिथक की सत्यता को नाटक के प्रस्तुतीकरण से जोड़ते हुए डॉ. रमेश गौतम कहते हैं—

“यदि मिथक का सत्य अपने युगीन सत्य के अनुरूप भी हो उसका प्रस्तुतीकरण अथवा कला—कौशल लचर हो तो ऐसे नाटक के मिथक और यथार्थ को श्लाघ्य नहीं कहा जा सकता।”⁴⁵

इस कसौटी पर यह नाटक शत—प्रतिशत खरा उतरता है क्योंकि इसका जम्मू में सफलतापूर्वक मंचन हो चुका है। जिस आंतक और निर्वासन को नागों ने सहा था वे आज दो बड़े संकट है जिनसे गुजरने के बाद जीवन के हाथ लगता है

⁴⁴ www.merakant.com

⁴⁵ डॉ. रमेश गौतम, रंगानभाव के बहुरंग, पृष्ठ 228

डायस्पोरा। कहीं का होकर वहाँ की जड़ों से उखड़ने की पीड़ा सहेजे अपने समाज से बिखरकर कहीं और जाकर बसना तथा अन्ततः उस बसने-न-बसने का अधूरापन भोगना। यही वह दर्द है जो हमारे मिथक के नागवंशियों ने अपने भीतर जिया और कश्मीर के इतिहास को धरोहर के नाम सौंप गए। हमारे समय में वह दर्द की धरोहर यानी दुरुख इतना गहरा गया है कि नाटक में आज का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र बोल उठता है—

“अरे हमसे अच्छी... कहीं अच्छी... कहीं तो वे समानताएँ रहीं जो दब गई जहाँ की थी वहाँ। खुदाई में मिलते हैं उनके अवशेष। पढ़ते हैं बच्चे किताबों में उन्हें। आहत निर्वासित इस योग्य भी नहीं। तिनका तिनका क्यों बिखर गए हम आज? खुदाई होगी जब हमारे मलबे की नहीं मिलेगा हमारा एक भी तिनका...।”⁴⁶

‘बहती व्यथा सतीसर’ नागों के जीवन की विडम्बना से जुड़े मिथक के माध्यम से आधुनिक कश्मीर के संदर्भों और परिवेश को तो चित्रित करता है पर अन्ततः इन संदर्भों का विस्तार होता है, जिसका छोर है, ग्लोबल विलेज की अवधारणा। ‘नीलमत’ पुराण की यह कथा जो दुर्भाग्य के रूप में आज कश्मीर पर तो छा ही गई है दुनिया के ग्लोबल विलेज के नारों की तर्ज पर इसके दर्द का भी विस्तार हो गया है। वह दर्द पारे की तरह पसर रहा है। यह अब मात्र सतीसर का ही नहीं, विश्वव्यापी दर्द बन गया है यानी दर्द का भूमंडलीकरण हो गया है। जो निर्वासन, जो विस्थापन, जो डायस्पोरा आज दर्द बनकर कश्मीरियों के भीतर टीस

⁴⁶ www.meerakant.com

की तरह कसकता है, वह समस्त विश्व में जगह-जगह मौजूद है और लगातार फैल रहा है।

विश्व एक गाँव होता जा रहा है। उस गाँव का सरपंच दुनिया का मसीहा छोटे-छोटे पंचों की सहायता से शक्ति के केन्द्रों के षड्यंत्रों की नित नई रचना में व्यस्त है। परिणाम है पूरे विश्व में यहाँ-वहाँ, जाने कहाँ-कहाँ छोटे-छोटे सतीसरों का लगातार सूचना। उनकी कथा का व्यथा में बदलना। बहती व्यथा सतीसर' एक सतीसर के माध्यम से वस्तुतः उन सभी सतीसरों के म्लान होते कमलों की कथा है जो अपने लिए उपयुक्त सूर्य नहीं ढूँढ पाते क्योंकि आज का हर सूर्य असंख्य राहुओं से ग्रस्त है।

8. हुमा को उड़ जान दो

नाटक 'हुमा को उड़ जाने दो' हुमायूँ के जीवन को उसके विराम से पलटकर देखने का प्रयास भर है। हुमायूँ एक ऐसा मुगल बादशाह जिसने अपनी करनी और यहाँ तक कि नाम में भी अंतर्विरोधों को जिया। हुमायूँ का शाब्दिक अर्थ है— वह शख्स जिसके सिर पर हुमा अर्थात् भाग्य लाने वाले एक खयाली परिदे की छाया पड़ी हो यानी भाग्यवान। अपने नाम के विपरित बादशाह हुमायूँ के जीवन का घटनाक्रम तो उसे एक बदकिस्मत बादशाह करार देता है, उसकी मौत भी एक बदकिस्मत मौत साबित हुई। पहले पुस्तकालय की सीढ़ियों से फिसलकर घायल होना फिर मौत के बाद मय्यत उठने का लगभग दो सप्ताह का लंबा इंतजार! चारों

ओर एक भ्रम की स्थिति कि बादशाह मृत हैं या जीवित! यानी जीवन ने लगातार मृत्यु की छाया को जिया और मृत्यु ने जीवन के भ्रम को!

“संसार की संस्कृतियों में भारतीय नाट्य परंपरा की विशिष्टता आज निर्विवाद है। उसकी प्राचीनता भी और उसकी अनोखी कल्पनाशीलता एवं अनुपम सौन्दर्य—दृष्टि भी। हमारे यहाँ रंगमंच की जड़ें बहुत पुरानी और गहरी हैं, बल्कि कहा जा सकता है कि आदिम या पौराणिक युगों से ही किसी न किसी तरह का रंगमूलक कार्यकलाप भारतीय जीवन का अनिवार्य अंग रहा है।”⁴⁷

‘हुमा को उड़ जाने दो’ अपने युग की भाषा में पगा होने पर ऐतिहासिक नाटक नहीं बल्कि इतिहास के बेतरतीब तिनकों को बटोरकर काल्पनिक पक्षी हुमा की भांति बनाया गया एक काल्पनिक नीड़ है। मीरा कांत का यह नाटक हुमायूँ की मौत को जिंदगी की शकल देने के इस सियासी खेल के दर्द की सशक्त अभिव्यक्ति है। एक ऐसा सियासी खेल जहाँ जिंदगी और मौत दोनों सिर्फ अलग—अलग दो मोहरे होते हैं और जो खेल सदियों से अलग—अलग साम्राज्यों व हुकूमतों में प्रायः खेला जाता रहा है।

हुमायूँ को सुख—सुविधाओं के तमाम तामझाम के बाबजूद एक अकेलापन घेरे हुए था। इसी अकेलेपन की अभिव्यक्ति को यह उदाहरण पेश करता है—

⁴⁷ नेमिचंद्र जैन, रंग परंपरा, पृष्ठ 12

हुमायूँ : (गंभीर और उदास स्वर में) क्या बताएँ... हमेशा से अंदर एक खला-सी रही...उसी खला का साथ निभाती... चलती चली आई है ये हमारे साथ (प्याले को देखकर) साथ-साथ! यूँ समझिए हमारी तन्हाइयों की हमराह है ये।

हमीदा बानो : क्या हमारे साथ रहते हुए भी तन्हाइयाँ बनी रहती हैं?

वस्तुतः हुमायूँ का एक मन था जो अकेला रहना चाहता था तो दूसरा मन साम्राज्य के सुखी को भोग रहा था। एक मन विरक्त होकर सूफी, संतों और दरवेशों की संगत के लिए तड़पना था तो दूसरा मन हिन्दुस्तान फतह कर अकबर को देना चाहता था। यह अंतर्विरोध जो उसे अपने मन व स्वभाव में जिया, वहीं उससे बाहर उसके होने में दिखाई देता है। एक ओर उसे शिक्षित, संवेदनशील शायर और ज्योतिषविद् के रूप में जाना गया तो दूसरी ओर एक भाग्यवादी सिरफिरे के रूप में जाना गया।⁴⁸

हुमा को उड़ जाने दो में हुमायूँ के अंतर्जगत तक जानेवाली सुरंग का द्वार खोजते हुए उन अवरोधों की शिनाख्त की गई है जो व्यक्ति की गति को बराबर निर्धारित करते हैं।

एक तरह से यह नाटक 'हुमायूँ' की कहानी को बयाँ करता है। यह कहानी नाटक की नाटकीयता का ही प्रारंभ बिंदु है। देवेन्द्र राज अंकुर के शब्दों में—

⁴⁸ हुमा को उड़ जाने दो, भूमिका, पृष्ठ 7

“कथा साहित्य में छिपी उसकी अपनी नाटकीयता, जो नाटक के बहुत नजदीक की चीज है। इसी के साथ जीवन के विविध पक्षों, रंगों और चरित्रों से जुड़े वे मार्मिक प्रसंग हैं जो किसी नाटक के लिए एक सशक्त एवं जीवंत कथानक और वातावरण का निर्माण करते हैं। यहाँ इस तथ्य को अलग से उल्लेखित करने की कतई जरूरत नहीं, सच तो यह है कि कहानी का जन्म पहले हुआ और उसी को सुनाने की परंपरा ने नाटक को जन्म दिया।⁴⁹”

जीवन के अंतिम दिनों में हुमायूँ का आंतरिक द्वन्द्व अत्यधिक बढ़ गया था। एक ओर वह अपनी खोई हुई जमीन वापिस हथिया कर अकबर को सौंप देना चाहता था तो दूसरी तरफ पीर दरवेशों का साया खोजता फिरता था। साम्राज्य का स्वर्ण पिंजर खोलकर उड़ जाना चाहता था। ‘अकबरनामा’ में अबुल फजल लिखते हैं— “जब उसकी मृत्यु निकट थी तो अपने कई परिचित लोगों से कहा था कि मेरी जबान पर बार-बार ये शब्द आते हैं कि हे प्रभु! मुझे अपना लो और अपने गुणों का ज्ञान करवाओ, तर्क ने मेरी आत्मा को अपंग कर दिया है। मुझे अपना मतवाला मानकर मुक्त कर दो।”

हुमायूँ : (दुःख में डूबा स्वर) कैसा प्यारा शेर पढ़ा था उसने इस वक्त... ओह कैसे भूले उसे... या खुदा ये हमसे क्या हो गया!

हमीदा बानो : (गंभीर स्वर में) आप खुद से ज्यादाती कर रहे हैं...

⁴⁹ देवेन्द्र राज अंकुर, पहला रंग, पृष्ठ 54

हुमायूँ : बेगम दोजख की आग का तो तजुर्बा नहीं... पर इतना जरूर जानते हैं...
इंसान के गुनाह उसका पीछा नहीं छोड़ते... और इसी हयात में उसे दोजख का
मंजर दिखा देते हैं।⁵⁰

इतिहास एवं कल्पना तथा भाग्य और पुरुषार्थ की भांति सत्य एवं मिथ्या
प्रचार के अभिनय को मीरा कांत ने अपने इस नाटक में बहुत संश्लिष्ट रूप में
प्रस्तुत किया है। इतिहास और कल्पना की यही शझिरमिट्श इस नाटक का मिश्रित
राग है।

9. अंत हाजिर हो

यह नाटक रिश्तों में गैर-ईमानदारी को दर्शाता है। महानगरीय जीवन में
घरेलू हिंसा के बढ़ते स्तर की तरफ इशारा करता यह नाटक दर्शकों की आँखें
खोलने के लिए काफी है।

इस नाटक में शशिल्पाश नामक एक पात्र है जिसकी छोटी बहन का नाम तनु
है जो जीवन के पाँचवें साल में ही अपने पिता द्वारा बलत्कृत हो जाती है। उसका
अंत अंततः आत्महत्या के रूप में हो जाता है। 'अंत हाजिर हो' उन स्थितियों का
नाटक है जब घर सुरक्षित चहारदीवारी का प्रतीक न होकर खतरा बन जाता है।
जब घर में भी घात लगी हो तो वह घर और भी घातक बन जाता है। यह घरेलू
हिंसा और बलात्कार से कहीं आगे जाकर मानवता की टूटती सांसों का नाटक है।⁵¹

⁵⁰ हुमा को उड़ जाने दो, पृष्ठ 14

⁵¹ भूमिका से, अंत हाजिर हो

आज अख़बार में तेजी से घरेलू हिंसा की ख़बर अपनी जगह बनाती जा रही है। खासकर आज का दर्शक वर्ग/पाठक वर्ग भी 'सनसनी' को ख़बर समझता है। इसी वजह से 'अपराध बुलेटिन' अख़बार में अधिक स्थान ग्रहण करते जा रहे हैं। इसी सिलसिले में घरेलू हिंसा मसलन चाचा द्वारा चार साल की भतीजी का बलात्कार, भाई-बहन में प्रेम-प्रसंग, बाप द्वारा बेटी की हत्या, बलात्कार आदि के प्रसंग अख़बारों में छाए रहते हैं। पुलिस व एक गैर-सरकारी संस्था का संयुक्त रूप से किया गया सर्वेक्षण बताता है कि घर में बच्चियाँ व किशोरी सुरक्षित नहीं हैं। आँकड़े बताते हैं कि आठ में से एक महिला का घर के ही सदस्यों द्वारा बलात्कार होता है।⁵²

वस्तुतः मीरा कांत का यह नाटक बलात्कार की कथा नहीं, रिश्तों गैर ईमानदारी की कथा है। विश्वासघात की कहानी है— माँ के साथ, बेटी के साथ और रिश्तों की मर्यादा के साथ। समाज की संरचना मर्यादा की जिन ईंटों से हुई है, उन ईंटों के साथ।

10. उत्तर-प्रश्न

'उत्तर-प्रश्न' एक जागरूक बुद्धिमती स्त्री द्वारा प्रस्तुत एक प्रबुद्ध प्रश्नवाचक चिह्न है। उस पुरुष सत्तात्मक समाज के समक्ष जो नारी को ममता, वात्सल्य, त्याग, समर्पण और श्रद्धा आदि से गरिमा-मंडित कर युग-युग से छलता आया है। यह किसी सत्ता लोलुप स्त्री की क्षुद्र लिप्सा नहीं बल्कि जायज अधिकारों के लिए

⁵² अंत हाज़िर हो, पृष्ठ 8

किए गए उसके संघर्ष की गाथा है। अपनी निरूपाय स्थितियों से प्रायः समझौता करने वाली नारी ने 'उत्तर-प्रश्न' में समाज में उपलब्ध सभी उत्तरों को एक प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा है। मीरा कांत ने प्रसिद्ध रचना में से एक संक्षिप्त घटनाक्रम को आधार बनाकर अपने इस पुरस्कृत नाटक को एक नया आयाम दिया है। यह नाटक उनके स्त्री प्रश्नों का विस्तार है। खुद मीरा कांत के शब्दों में—

“मेरा यह दसवां नाटक रचना-क्रमों में दूसरे नाटक 'नेपथ्य राग' के स्त्री-प्रश्न को आगे ले जाते हुए उसका एक नया आयाम प्रस्तुत करता है कि स्त्री-संघर्ष सही अर्थों में तभी सफल होगा जब पुरुष मानसिकता में गुणात्मक परिवर्तन आएगा।”⁵³

एक सुखद संयोग है कि उपर्युक्त दोनों नाटकों को 'मोहन राकेश सम्मान' मिल चुका है।

कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के इतिवृत्त के अनुसार कश्मीर की पहली

महिला शासक थी यशोमती: जो गोनन्द वंश की पुत्र वधू थी। इस वंश के

महाराज गोनन्द ने जरासंध के अनुरोध पर मथुरा पर आक्रमण कर वहाँ

आतंक-सा फैला दिया। अंततः गोनन्द ने बलराम की गदा के प्रहार से प्राण

त्यागे। उनके वध का प्रतिशोध लेने के लिए उनके पुत्र महाराज दामोदर ने

⁵³ भूमिका, उत्तर-प्रश्न, साहित्य-कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 5

गांधार पुत्र की माता का राज्याभिषेक किया जो अंततः पुरुष सत्ता स्थापित

करने की ही कुटिल चाल थी।

इस नाटक की प्रासंगिकता पर टिप्पणी करते हुए नाटककार कहती हैं—

“‘राजतरंगिणी’ के कथा—सूत्र पर आधारित होने के बावजूद ‘उत्तर—प्रश्न’ न कोई ऐतिहासिक नाटक है और न ही पौराणिक। इस नाटक का उद्देश्य इतिहास, मिथक या पुराण का उल्था प्रस्तुत करना भी नहीं है। हाँ प्रथम अंक में कुछ मिथकीय अंतर्कथाएँ अवश्य दी गई हैं, परन्तु वे केवल पृष्ठभूमि अथवा वातावरण का निर्माण करने के लिए हैं। अतः इस काल—भेद के विवाद में न उलझकर इसका समय महाभारत युद्ध से पूर्व का ही मानकर हमने अपने उत्तर—प्रश्नों को आगे बढ़ाया है। वैसे भी यहाँ प्रश्न ऐसे प्रश्नों का है जो अनंत काल से समय—प्रवाह में बहते हुए हर वर्तमान के किनारे पड़ाव डाल उसे बीता कल बनाकर आने वाले कल की ओर प्रयाण करते हैं। ये मिथक, जनश्रुतियों और इतिहास के भेद से भी परे के प्रश्न हैं जिनके लिए काल भेद से कहीं अधिक महत्व अब दृष्टि—भेद का है।”⁵⁴

मीरा कांत यशोमती के माध्यम से स्त्री—शक्ति व अधिकारों की लोकतांत्रिक मांग करती हैं। यशोमती स्त्री शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हुए व्यवस्था में व्याप्त उन मूल्यों को चुनौती देती है जो रेशमी पर्दों की आड़ में स्त्री की संभावनाओं को पददलित करते हैं। सत्ता लोलुप होने का जोखिम उठाते हुए यशोमती निर्णय करती है कि वह शासक के रूप में तब तक पद त्याग नहीं करेगी जब तक अपने पुत्र को

⁵⁴ भूमिका, उत्तर—प्रश्न, साहित्य—कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 3

वे मूल्य व संस्कार न दे ले जो स्त्री शक्ति की संभावनाओं के पक्षधर हों, उन्हें पनपने का अवसर देते हों— यशोमती—सुहासिनी ध्यान से सुन... ऐसे में मेरा एक संदेश इस बालक के वयस्क होने पर मैं राजस्वयंवर में आमंत्रित यदुवंशियों को युद्ध के लिए ललकारा। इस युद्ध में कृष्ण के सुदर्शन चक्र ने उसकी इहलीला समाप्त कर दी। विजयी कृष्ण ने यदुवंशियों के विरोध के बावजूद स्वर्गीय दामोदर की गर्भवती रानी यशोमती का ही राज्याभिषेक किया। कृष्ण का यह तर्क सब तर्कों को निरस्त कर देता है कि कश्मीर का नरेश कोई कश्मीरवासी ही होना चाहिए। इस बिन्दु पर आकर यह नाटक आज के कश्मीर के विशेष संवैधानिक दर्जे और अनुच्छेद 370 का एक सूक्ष्म संकेत भी देता है। एक स्थल पर श्री कृष्ण कहते हैं—

महामंत्री : राजसिंहासन पर स्त्री।

कृष्ण : महामंत्री कोई आपत्ति है क्या?

महामंत्री : आपत्ति तो नहीं वासुदेव... परन्तु यह अनहोनी होगी... राजसिंहासन पर स्त्री के होने की कोई परंपरा तो नहीं है।

कृष्ण : परंपराएँ बनाई जाती हैं जो भविष्य में स्वयं नियम बन जाती हैं। वैसे आपको स्मरण करा दूँ कि त्रेतायुग में रघुवंशी राजा अग्निवर्ण की सहधर्मिणी का उदाहरण है हमारे सामने।⁵⁵

⁵⁵ उत्तर—प्रश्न, साहित्य कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 22

‘राजतरंगिणी’ के इस संक्षिप्त कथासूत्र की नींव पर नाटक ‘उत्तर-प्रश्न’ में इस कथा की घटनाओं व पात्रों को कल्पित किया गया है। उपलब्ध कथा के विपरीत महारानी यशोमती सत्ता और राजसत्ता पर पुरुष के एकल अधिकार को चुनौती देती है। साथ ही वह कृष्ण की उदारता पर एक प्रश्न चिन्ह लगाती है कि यदि उसके गर्भ में कन्या-भ्रुण होता तो क्या कृष्ण उसका राज्याभिषेक कर भविष्य में कश्मीर मंडल का राज्य उसकी पुत्री को सौंपते?

वह कृष्ण के इस छलावे को यह कहकर बेपर्दा करती है कि कृष्ण ने एक स्त्री के राज्याभिषेक का ढोंग कर इस तक अवश्य पहुँचा देना। कहना कि तुम्हारी, माँ न्याय के लिए, निर्बल वर्ग, स्त्री शक्ति को अधिकार दिलाने के लिए तुम्हारे संस्कारवान होने तक सत्ता में रहना चाहती थी।⁵⁶

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस कल्पित कथा के बहाने यह नाटक आज समाज में स्त्री को उसकी रूढ़िवादी निर्धारित भूमिका में रखकर गरिमामंडित करने वालों के सभ्य षड्यंत्र की बखिया उधेड़ता है। महिला आरक्षण और उसमें भी आनुपातिक आरक्षण की मांग के दौर में ‘उत्तर-प्रश्न’ वस्तुतः उत्तरोत्तर आधुनिक युग का प्रासंगिक प्रश्न है जिससे स्त्री तब भी जूझ रही थी और आज भी दो-चार है।

निष्कर्षतः हम यह उम्मीद रख सकते हैं कि 21वीं सदी में हमारा रंगकर्म जहाँ एक ओर अपनी सदियों पुरानी परंपरा के उन तत्वों को जो हमारे दर्शकों के

⁵⁶ उत्तर-प्रश्न, साहित्य कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 22

संस्कारों में ढले हुए हैं, निर्वाह करते हुए आधुनिक परिवेश के अनुकूल अपने को ढाल कर नये मुहावरे निर्मित करेगा और समाज में चल रहे विमर्शों को जगह देगा।

11. तीन अकेले साथ-साथ (एकल नाट्य)

मीरा कांत ने सिर्फ मौलिक हिन्दी नाटकों की ही सर्जना नहीं की। जैसा कहा जा चुका है कि नाटकेतर साहित्य में सभी विधाओं में इन्होंने रचनाएँ की हैं। हाल ही में एकल नाट्य के क्षेत्र में इन्होंने अपने कदम बढ़ाये हैं। 'तीन अकेले साथ-साथ' नाम से प्रकाशित यह एकल नाट्य स्त्री-विमर्श की पैरोकारी करता है। अपनी कहानियों में से तीन ऐसी कहानियाँ जो क्रमशः गली दुल्हनवाली, धामपुर और कागजी बुर्ज हैं— को आधार बनाकर, स्त्री-प्रश्नों से जोड़कर स्त्री आकांक्षाओं, विडम्बनाओं को बखान किया है। तीन स्त्रियों के दर्द जब एक हो जाये अर्थात् दर्दों का समुच्चय एक हो जाये, तो उसे स्त्री-विमर्श कहते हैं। तीन पात्र अलग-अलग परिवेश, संस्कृति और क्षेत्र के होकर भी एक साथ मंच पर हैं। पर सबकी समस्या एक है। भूमिका में मीरा कांत लिखती हैं—

“नाट्य त्रयी में संगृहीत तीनों एक नाटक मेरी पूर्व प्रकाशित तीन भिन्न-भिन्न कहानियों पर आधारित हैं। समानता है तो बस उस एक धागे की, जो इन्हें पिरोता है और वह है— औरत का दर्द।”⁵⁷

⁵⁷ मीरा कांत, तीन अकेले साथ-साथ, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्रथमसंस्करण-2013, पृष्ठ 7

एकल नाटक अभिनेता केन्द्रित होते हैं। लोकप्रिय मान्यता है कि एकल अभिनय वही अभिनेता कर सकता है जो अभिनय में पारंगत हो। ये बात सच है पर अभिनय में पारंगत तो हर अभिनेता को होना चाहिए। कम-से-कम कोशिश तो करनी ही चाहिए, चाहे वो एकल अभिनय करे या सामूहिक। पर ऐसी एक मान्यता बन गई है कि सामूहिक अभिनय में अभिनेता की कमियों को छुपाया जा सकता है एकल में नहीं। एकल प्रदर्शन अभिनेता और दर्शक की सच्ची मुठभेड़ है। क्योंकि अभिनय में चरम सीमा तक पहुँचने पर अभिनेता और दर्शक की भूमिकाएँ परस्पर बदली जा सकने की संभावनाएँ बनाती हैं।⁵⁸

ऊपरी तौर पर 'एकल अभिनय' भले ही सरल लगे, किन्तु वास्तव में यह समूह अभिनय से ज्यादा जटिल है और कल्पनाशीलता तथा नाट्य-कौशल में सिद्धस्त अभिनेता की मांग करता है। समूह अभिनय में, जहाँ अनेक अभिनेताओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के संघर्ष से नाट्य प्रभाव की सृष्टि होती है, वहीं एक अभिनय में, अभिनेता के भीतर यह नाट्य व्यापार घटित होता है, जो उसकी शारीरिक क्रिया द्वारा मंच पर साकार होता है। यह एक जटिल नाट्य-प्रक्रिया है। एकल अभिनय मूल धारा के समूह अभिनय के विरुद्ध नहीं है, बल्कि यह उसे संपुष्ट करता है। बल प्रदान करता है, सबसे महत्वपूर्ण यह कि रंगमंच की अनिवार्य इकाई अभिनेता को विशेष पहचान देता है। इस प्रकार, यह रंगमंच के नायक 'अभिनेता' को पुनर्स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। "वस्तुतः एकल अभिनय एक सामान्य नाट्य मंचन जैसा ही है, जिसमें एक-अकेले अभिनेता के अतिरिक्त किसी दूसरे अभिनेता

⁵⁸ महेश आनंद, rangvimarshblogs.com

की उपस्थिति की आवश्यकता नहीं होती और इसकी सफलता भी इसी में है कि दर्शक नहीं होती और इसकी सफलता भी इसी में है कि दर्शक को किसी भी क्षण किसी अन्य अभिनेता के न होने का अहसास न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो एकल-नाट्य सिद्धस्त अभिनेता का सिग्नेचर है और अंततः रंगमंच के हित में है।⁵⁹

मीरा कांत की नाट्य त्रयी 'तीन अकेले साथ-साथ' एक ही शीराजे में एक साथ स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखे गये तीन एकल नाटकों का संग्रह है। अपने में जितने मुकम्मल उतने ही अकेले मगर एक डोर से बंधे होने के कारण तीनों एकल साथ-साथ। जैसे बहुत भिन्न व्यक्तित्व और पृष्ठभूमि की तीन

स्त्रियों का समान दर्द की डोर से बंधकर एक ही छत के नीचे एक साथ होना। वहीं सदियों पुराना दर्द यानी पितृसत्तात्मक मूल्यों वाले इस दमघोंटू समाज में उसके अस्तित्व व अस्मिता का संकट। यह त्रयी मीरा कांत की तीन कहानियों का एकल नाट्य-विधा में कायांतर है। स्त्री चाहे किसी वर्ग, धर्म या जाति की हो, उसकी सामाजिक हैसियत और सामाजिक संबंधों में उसकी असमान स्थिति एक अटल सत्य है। यह सत्य उसे 'गली दुल्हनवाली' में घर की देहरी से बाहर ठेल देता है तो 'कागजी बुर्ज' में अचानक संबंधों की चौखट के बाहर पहुँचा देता है और 'धामपुर' में मानसिक संतुलन की देहरी पार करने को विवश कर देता है। ये तीनों एकल संघर्षमय स्त्री-जीवन की इन्हीं परिणितियों के आलेख हैं। एक उदाहरण—
(अचानक गम्भीर होकर)

⁵⁹ rangvimarshblogs.com

“क्या है ये प्रेम और विवाह? क्यों होते हैं जन्म-जन्म के रिश्ते? नाम-बेनाम रिश्ते! कोई अपने प्रेमी से विवाह करके सत्ता के केन्द्र में रहता है... ..कभी बिना विवाह के ही तानाशाह की प्रेमिका तारामती की तरह नाम किसी पवित्रता से जुड़ जाता है और वो इतिहास नाम किसी पवित्रता से जुड़ जाता है और वो इतिहास में याद की जाती है तारामती मस्जिद के बहाने और कोई बदकिस्मत.....मोहम्मद कुली कुतुबशाह की पहली पत्नी की तरह अपने पिता की किसी गलती की वजह से हमेशा-हमेशा के लिए बैरंग वापस बाप के पास भेज दी जाती है.....बेकसूर! जाने क्यों।”⁶⁰

यह एकल नाट्य मीरा कांत के तीन स्त्री-पात्रों के माध्यम से अपनी पूर्णता पाता है। स्त्री प्रश्नों के जिन बिन्दुओं को यह उकेरता है वह अवश्य ही मंच पर भी सफल सिद्ध हो सकता है। साथ ही सहृदय समाज के लिए यह एक नैतिक दायित्व भी निभाता है।

12. पुनरपि दिव्या (नाट्य-रूपांतरण)

मीरा कांत ने प्रसिद्ध उपन्यासकार-कथाकार यशपाल की रचना ‘दिव्या’ का नाट्य-रूपांतरण कर नाट्य-जगत में एक अलग पहचान बना चुकी हैं। बौद्धकालीन परिदृश्य के प्रभाव में रचा गया यह उपन्यास यशपाल के प्रगतिशील दृष्टि को रेखांकित करता है। फिर भी यह प्रश्न उठता है कि इसके नाट्य-रूपांतरण के पीछे कौन-सी वैचारिक प्रेरणा सक्रिय रही है। मीरा कांत की दृष्टि में-

⁶⁰ मीरा कांत, तीन अकेले साथ-साथ (कागजी बुर्ज़), स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नईदिल्ली-02, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ 88-89

“विचारधारा के अंत’ के माहौल में भी दिव्या अपने अनेकानेक आयामों के कारण एक कालातीत रचना है, जिसमें हर युग अपने प्रश्नों के उत्तर पा सकता है। नायिका प्रधान इस कृति में स्त्री-विमर्श के वे संदर्भ आद्यंत फैले हुए हैं जो आज हमारे समाज की असली सच्चाई हैं।”⁶¹

यह नाटक सत्ता के कुचक्र में फंसी दिव्या की आह को दर्शाता है। व्यक्तिगत स्वार्थ की राजनीति के प्रपंच में स्त्री फँसकर अपना, सर्वस्व लुटाकर भी हेय दृष्टि से देखी जाती है। नारी को भोग्या मानकर उसके साथ अनैतिक आचार करना एक दंडनीय अपराध की श्रेणी में रखे जाने लायक अपराध है। स्त्री-हताशा व कुंठा का ये प्रमाण देखने लायक है—

अंशुमाला : आर्य, जो होना था हो गया...अब दुःख क्या है?

मारिश : ऐसा क्या हो गया, देवी? वह जीवन का एक अंश था। जब तक

जीवन है, उसमें परिवर्तन और प्रयत्न के लिए अवसर और संभावना है। भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है..... आदिशक्ति है.... समाज और कुल का केन्द्र है.....वह शक्ति ऐसी अशक्त क्यों?

अंशुमाला : वह सब नारी के जीवन की सार्थकता अवश्य है.... परंतु उस सार्थकता को नारी अपने अस्तित्व के मूल्य में पाती है, केवल पुरुष की भोग्या बनकर। स्वयं दूसरे के लिए भोग्य बनकर कोई क्या सार्थकता पायेगा, आर्य?

⁶¹ फ्लैप से, पुनरपि दिव्या, मीरा कांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्रथमसंस्करण-2000

मारिश : भद्रे का कथन अंशतः सत्य है, अंशतः असत्य। नारी प्रकृति के विधान से नहीं, समाज के विधान से भोग्या है। स्त्री पुरुष अन्योन्याश्रित हैं।

अंशुमाला : परंतु पुरुष के प्रश्रय में नारी के जीवन की सार्थकता क्या है..... पुरुष द्वारा उसका उपभोग। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतंत्र है।
वेश्या स्वतंत्र नारी है.....केवल वेश्या.....।⁶²

वस्तुतः व्यक्तिगत स्वार्थों और सरोकारों से प्रेरित सत्ता की राजनीति को 'दिव्या' में अभिव्यक्ति मिली है जो हर युग की राजनीति का संदर्भ बिन्दु हो सकता है। टुकड़ों में बंटे हुए समाज को हम किसी भी संघर्ष के नाम से जानें या पहचानें, वंचित लोगों की पीड़ा, उनका आर्तनाद हर युग में सुना जाना चाहिए। नाटक 'दिव्या' में लिये गये उपन्यास के चुनिंदा मूल पात्रों के साथ सूत्रधार शैली में जिन दो पात्रों (नागदत्त की धार्मिक और वामदेव) की कल्पना की गयी है, वे वस्तुतः उस युग की धार्मिक-सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों की जीवंत उपस्थिति हैं। कुल मिलाकर यह रूपांतरण उस युग के स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श की प्रतिध्वनि की एक विनम्र नाट्य-प्रस्तुति है।

4.2 नाटकेत्तर साहित्य में स्त्री

1. ततः किम्

'ततः किम्' उपन्यास मीरा कांत का रचना-क्रम में पहला उपन्यास है। यह उपन्यास मानव-जीवन और मानव-संबंधों की अनित्य प्रकृति की गल्प कथा है।

⁶² वही, पृष्ठ 54

सब कुछ पाकर कुछ भी चिरजीवी न पा सकने की व्यथा—कथा। ततः किम् का अर्थ है उससे क्या, उसके आगे क्या? भर्तृहरि ने अपने वैराग्य—शतक में जीवन की एषणाओं की व्यर्थता को इसी ततः किम् की टेक से समझा था। एक दीर्घ अतीत से आच्छादित कानन के अरण्य जैसे जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास मूलतः प्रेम—सम्बन्धों में पाने न पाने और पाकर भी न संभाल पाने की अविफल विकलता है, जो सुखान्त परिणति में भी प्रति ध्वनित होती रहती है।⁶³

स्त्री—जीवन की विसंगति और विडम्बना को मीरा कांत लेखनी का औजार बनाती हैं। लेखिका की सबसे बड़ी जिद है स्त्री को 'व्यक्ति' के रूप में स्थापित करना। पश्चिम में स्त्री विमर्शकारों ने पिछले छः दशकों से इस लड़ाई को अंजाम दिया है। स्त्री—बहन, बेटी, पत्नी, माँ इत्यादि छवियों के रूप में तो पहचानी जाती रही है, लेकिन वह 'व्यक्ति', के रूप में छवि बनाने, पहचाने जाने के लिए संघर्षरत है। 'ततः किम्' की 'कानक' भी जीवन का अर्थ खोजने की प्रक्रिया में जीवन के संबंधों का जोड़—घटा करती है तो सिर्फ अनुभूति से बने वह क्षण संजो पाती है जिनमें केवल अकेले होकर पतझड़ से जूझने की जिद विद्यमान है।⁶⁴

लेखिका का स्त्री के संदर्भ में सारा बल स्मृतियों पर है। उपन्यास में एक स्थल पर वह कहती हैं। "स्मृति ही अँधेरा है और स्मृति ही उजाला!" मैंने मृत्यु को नहीं जाना था तब.... यही कोई पाँच—छः साल का रहा हूँगा। स्कूल से आया तो देखा माँ चारपाई पर है। मैंने उसे कभी सोते नहीं देखा था.... मेरे सोने के बाद

⁶³ www.meerakant.com

⁶⁴ मीरा कांत, ततः किम्, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2001, पृष्ठ 79

सोती थी.... और सबसे पहले उठ जाती थी। मैं घबरा गया और जोर-जोर से रोने लगा... मुझे लगा माँ मर गई है। वह इतनी थकी थी कि शायद मेरे रोने से भी नहीं जगी।” मीरा कांत का यह उपन्यास एक तरह से दार्शनिक लगता है। जिंदगी जीने-समझने का दर्शन इसमें खूब है। स्त्री-जीवन की विसंगतियों को आवाज देता यह उपन्यास अपने लिए उपयुक्त जमीन तलाशता है। जिंदगी पीढ़ी दर पीढ़ी रिश्तों के जाल के भीतर से धारा प्रवाह तरीके से निकलती है और मृत्यु पहले के स्थान पर दूसरे के लिए जगह बना देती है, पर इंसानी रिश्ते स्मृतियों में हमेशा जिंदा रहते हैं और उन्हीं जिंदा रिश्तों की कहानी है— ‘ततः किम्’ ।

लेखिका कहती है— ‘यह कथा है उस पहली समझौतावादी स्त्री-पीढ़ी की जिसकी परिपक्व चेतना से गुजरकर ही आगे की पीढ़ी सशक्त हो सकती है।’ “ततः किम् में संबंधों में परिपक्वता दिखाई पड़ती है। यह परिपक्वता ज्ञान व स्व अंकुश में पककर इतनी उज्ज्वल हो गई है कि ‘ऋचा’ ‘पारस’ के प्रेम आग्रह को स्वीकार नहीं करती और ‘कानन’, जेजेश्वर को केवल अतीत का एक शाप समझकर भूलने का प्रयास करती है।”⁶⁵

वस्तुतः मीरा कांत के उपन्यासों में ‘स्त्री’ केन्द्र में आ ही जाती है। उनके समस्त स्त्री लेखन के केन्द्र में ‘स्त्री’ है। साहित्य स्त्री को धुरी बनाकर उसके आसपास से ही चक्कर काटता है— यह आक्षेप स्त्री-लेखन पर लगता रहा है। इसकी व्याख्या करती हुई लेखिका कहती है कि गद्य पुरुष है और कविता स्त्री। ये

⁶⁵ संवेद, जनवरी, 2010, पृष्ठ 223

दो अलग-अलग दुनिया है। इन दुनियाओं की अपनी-अपनी दुनिया है। अब आधी से ज्यादा उम्र काट लेने के बाद क्या किसी दूसरी दुनिया में जाना चाहेगा।

स्त्री होने के नाते वह अन्ततः स्त्री-लेखन की दुनिया में ही विश्वास व्यक्त करती है। लेकिन यह भी स्वीकार्य तथ्य है कि पुरुष लेखन जिस प्रकार स्त्री के बिना अधूरा व निष्प्राण है, वहीं स्त्री-लेखन भी पुरुष प्रति संसार के अभाव में बिखरता है। इन दोनों के मेल से कई प्रति संसार निर्मित हो सकते हैं। गद्य यदि कविता के जरा-सा पास होकर गुजरे तो एक साथ कई प्रति संसार देने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार मीरा कांत के स्त्री-विमर्श में परंपरा और विद्रोह का संतुलन है। परंपरा बोध, परिवार व कुटुम्ब से रागात्मक संबंधों के साथ पितृसत्ता व निर्वासन के बीच झूलती स्त्री की असुरक्षा लेखिका को बेधती है। लेकिन यहाँ संबंध आत्मीय होने पर भी व्यवहारिक नहीं है, उसमें सिहरन नहीं है, छुअन नहीं है। अपनी रचनाओं में वह सेक्सुअल संबंधों को लगभग ढंककर रखती हैं, यानी इनकी रचनाएँ नैतिकता के विशेष आवरण में ढकी है।

2. उर्फ हिटलर

मीरा कांत का उपन्यास 'उर्फ हिटलर' न कोई राजनीतिक दस्तावेज है और न शुद्ध इतिहास। यह ऐसा संसार है जहाँ इतिहासकारों का सच है और उपन्यासकार की कल्पना साथ-साथ साँस लेती है। यानी राजनीतिक यथार्थ और सृजनात्मक कल्पना का एकतान हो जाना। विश्व गोचर इतिहास और निजी जीवन के द्वंद्व पर आधारित यह उपन्यास सत्ता के रिश्तों से कहीं आगे जाकर निजी रिश्तों

में सत्ता के सुराग ढूँढ़ता है। परिवार के गोशों में बसे मकबरों का दर्द उकेरता है। वे मकबरे जो जमीन से कहीं अधिक जमीन के भीतर होते हैं। वहाँ के बाशिन्दे जिनकी कराहों को सुनने के आदी हो जाते हैं, लेकिन कभी-कभी आता है वह पल भी जब किसी दूसरे की चीख-पुकार सुनकर कोई अपने रिसते जख्मों की यादों को समेटना शुरू करता है। यानी एक विपर्यस्त यात्रा। इतिहास से ठीक उल्टी। अतीत की तरफ रोशन होती एक सुरंग जो अंतर्पाठ तक ले जाकर नए ध्वन्यर्थ देती है, जिसे वक्त ने मिट्टी डालकर जानबूझकर झूठ बनाया था।⁶⁶

प्रधानतः नाटककार के रूप में प्रख्यात मीरा कांत का यह दूसरा उपन्यास है। जो आख्यान विरोधी और परंपरागत औपन्यासिक प्रतिमानों के बहिष्कारवादी दौर में भी यह प्रबलता से द्योतित करता है कि 'वस्तु' की संवेदना तथा चारित्रिक संघटनात्मकता की समझ से निर्मित उपन्यासों के लिए अब भी कोई संकट नहीं है।

'उर्फ हिटलर' यातना और आतंक के दो सिरों को एक साथ देखने, उसे बरतने तथा अतीत के साथ वर्तमान और भविष्य की मुश्किल राहों को खोजने के कारण सीधे मर्म पर चोट करता है। आतंक और भय से कुचलती जा रही मानवीय अस्मिताओं तथा आकांक्षाओं की पुनर्वापसी के लिए कोई वैध कानून नहीं है, सामाजिक संरचना इतनी क्रूर और निर्मम है कि घर का मालिक स्वयंभू होने को स्वतंत्र है। रिशतों की आड़ में फैली बेपनाह वहशत, दरिन्दगी और वासना पर अंकुश लगाने वाली कोई शक्ति नहीं। स्वतंत्रता, अधिकार, समता, नैतिकता जैसे मूल्य यहाँ कोई अस्तित्व नहीं रखते। भारतीय पारिवारिक व्यवस्था का एक पक्ष यह भी है जो

⁶⁶ www.meerakant.com

निर्मम, मनुष्य विरोधी व्यवस्था का एक पारंपरिक प्रतीक है। मीरा कांत की सफलता इसमें है कि वे भारतीय समाज—व्यवस्था के इस क्रूर यथार्थ की तहों को भेद पाती है और उसकी तुलना में नाजीवाद के जघन्य कृत्यों को रख पाती हैं जो अपनी वहशत में एक से है, शकल उनकी भले ही अलग—अलग हो।⁶⁷

मीरा कांत का कथा साहित्य निम्न मध्यवर्गीय भारतीय समाज का चिर सहचर है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका शालिनी की जर्मनी यात्रा के मोड़ से आरंभ होकर पीछे छूट गई वीथियों में मुड़ता चला जाता है। जर्मनी में हिटलर के एक कारागार का सैद्धांतिक अध्ययन करते—करते शालिनी के व्यक्तिगत जीवन की सीवन उघड़ने लगती है और उभरकर आता है एक चेहरा, जो हिटलर का हमनाम न सही, उपनाम अवश्य था। सामंतवादी पारिवारिक व्यवस्था में ऐसे निरंकुश अधिनायकवादी मुखिया हमारे समाज के कटु यथार्थ हैं। इस सच की व्यापकता ने हमें इसे चुपचाप खून का चूंट पीकर सहने के लिए मजबूर कर रखा है। इस संस्थाबद्ध शोषण की आड़ में न जाने कितने असह्य अत्याचारों को सांस्कृतिक मूल्यों की झीनी चदरिया ओढ़ाकर उसके घिनौने रूप को हम ढके रहते हैं।

उर्फ हिटलर में लेखिका लिखती हैं— “घर में सबने महसूस किया कि बाबूजी कुछ और अकड़कर रहने लगे हैं, जैसे अपने शत्रु को आता देख बिल्ली के सारे मुलायम बाल काँटों की तरह खड़े हो जाते हैं।”⁶⁸

⁶⁷ ज्योतिष जोशी, परिकथा, जुलाई—अगस्त, 2008, पृष्ठ 97

⁶⁸ उर्फ हिटलर पेंगुइन बुक्स इंडिया, यात्रा बुक्स, दिल्ली संस्करण 2007, पृष्ठ 56

प्रस्तुत उपन्यास इस जमी हुई काई को खुरच कर उसका बदरंग चेहरा बेपर्दा करता है। उत्तर-उपनिवेनिवेशवादी युग में उत्तर मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति का विकास किया जाय तो न जाने ऐसे कितने हिटलरों के परखच्चे उड़ जाएंगे। इस दृष्टि से छोटे-छोटे गांव, कस्बों और यहाँ तक कि महानगरों में भी इस मानसिकता का प्रसार करने वाले परिवार के लोग जब इस छलनी में से छाने जाएंगे तो शायद वे हिटलर के जोड़ीदार ही बैठेंगे। सुषमा भटनागर के शब्दों में— “यह लघु उपन्यास स्त्री-पुरुष के कृत्रिम बंटवारे से विरत होकर व्यापक मानवतावादी दृष्टि से मानव त्रासदी का अवगाहन करता है, किसी पंथ विशेष का चुल्लूभर आचमन नहीं। यह सिद्ध करता है कि यह दुनिया केवल स्त्री-पुरुष की तख्तिरियाँ टांग देने से तय हो जाने वाली जगह नहीं है। इस लटू जैसे जगत को घुमाती है— अर्थ और सत्ता की डोर, वह चाहे हिटलर की मनमानी व्यवस्था हो या उर्फ हिटलरों का गैस चेम्बरी कुनबा।”⁶⁹

इस प्रकार ‘उर्फ हिटलर’ इस स्तर पर भी प्रशंसनीय उपन्यास बन पड़ा है कि इसमें नये बन रहे समाज के भीतर स्वतंत्रता और समता जैसे विचारों की प्रतिष्ठा की बेचौनी है। बड़े-बड़े नारों, संघर्षों और पूरी दुनिया को उलट-पुलट देने वाली दृष्टियों के इस दौर में परंपरागत हिटलरी की भेंट चढ़ती मनुष्यता और पारिवारिकता को बचा लेने की चिन्ता से प्रेरित मीरा कांत का यह उपन्यास सही मायनों में हिंसा और स्वतंत्रता के दमन को एक ही बिन्दु पर रखकर मानवीय त्रासदी के एक बड़े प्रश्न को विमर्श में लाने का गंभीर उद्यम करता है।

⁶⁹ सुषमा भटनागर, लोकायत 1-15 मई, 2008, पृष्ठ 52

3. एक कोई था कहीं नहीं—सा

कुछ दशकों से कश्मीर का नाम आते ही हमारे दिमाग में आतंकवाद के अंतहीन सिलसिले की तस्वीर उभरने लगती है। भारत का अंग होते हुए भी शेष भारत से उसका सहज संबंध नहीं बन पाया अथवा नहीं बनने दिया गया। पारंपरिक अपनत्व, राष्ट्रीय—अंतर्राष्ट्रीय साजिश का शिकार होकर उत्तरोत्तर अविश्वास एवं अजनबीयत में तब्दील हो गया। हमारे जेहन में कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य की रूमानी छवियाँ हैं तथा उसके रौंदे जाने एवं अप्राप्य होने की छटपटाहट। आज कश्मीर जिस रूप में हमारे सामने हैं, वह आजादी के बाद से ही निरंतर चल रहे सत्ताजनित षड्यंत्र एवं ऐतिहासिक रणनीतिक भूलों का परिणाम है। राष्ट्रीय—अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक—सामरिक प्रश्नों के बीच उलझे इस प्रदेश के लोगों का जीवन उनकी दहशत—पीड़ा, उनका विस्थापन, उनके रोजी—रोटी का प्रश्न कहीं नेपथ्य में चला गया है। 'एक कोई था कहीं नहीं—सा' कश्मीर के गुजरे हुए जिंदा इतिहास की फुटलाइट में आगे बढ़ने वाला एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें वहाँ के सामाजिक—सांस्कृतिक देशों से बटी रस्सी के माध्यम से एक पूरा युग रिफ्लेक्ट होता गया है। 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक खुली इस रस्सी को मीरा कांत ने शबरी नामक एक संघर्षशील किशोरी विधवा, उसके प्रगतिशील भाई अम्बर नाथ के जीवन—संघर्ष और क्रांतिकारी समाज सुधारक कश्यप बंधु की सामाजिक चेतना की लौ के सहारे बढ़ते हुए दोबारा 21वीं शताब्दी तक गूँथा है। इस बुनावट में एक और अहम—अक्स उभरकर आया है—कश्मीर में जाग रही नारी चेतना का।⁷⁰

⁷⁰ www.meerakant.com

साहित्य, समाजशास्त्र व राजनीति की व्यावर्तक रेखा को धूमिल करता यह उपन्यास कोई राजनीतिक दस्तावेज नहीं बल्कि राजनीति के निर्मम हथौड़ों के निरंतर वार से विकृत किया गया कश्मीर की संस्कृति का चेहरा है। इसके नैन-नक्श बताते हैं कि कैसे कोई जीवन्त संस्कृति सियासी शह और मात की बाजी के शिकंजे में आकर एक मजबूर मोहर बनकर रह जाती है। कश्मीरियत को वहीं के मुहावरों, कहावतों और किंवदंतियों में अत्यन्त आत्मीयता से पिरोकर लेखिका ने आंचलिक साहित्य में एक संगेमील जोड़ा है। “यह उपन्यास कश्मीरी जनजीवन की बाहरी-भीतरी तब्दीलियों का जीता-जागता आख्यान है। इसमें 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक तक के कश्मीर के सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक हालात का बखूबी जायजा लिया गया है। विद्रूप होती राजनीति के न जाने कितने कठोर हथौड़ों से क्षत-विक्षत आम कश्मीरियों के दुःख-दर्द को बयां करता उपन्यास बड़े रागात्मक लगाव के साथ कश्मीर के लोकजीवन में बिखरे तमाम रंगों-रूपों को प्रामाणिकता से उभारता है।”⁷¹

यह उपन्यास राजनीति व इतिहास की शुष्क दास्तान न होकर मानव संबंधों की बारीकियों के साथ कश्मीर के सामान्य जन-जीवन की वह कथा कहता है जिसका सबसे पहला पाठ ‘सोशल रिफार्म जिंदाबाद’ है। इसमें अनमेल विवाह की त्रासदी झेलती एक विधवा ‘शबरी’ को उसका रिफार्मी भाई अंबरनाथ ससुराल से उठा लाता है और शबरी अपने भाई व तत्कालीन समाज सुधारक कश्यप बंधु से

⁷¹ इंडिया टुडे, 8 दिसम्बर 2010, पृष्ठ 60

प्रभावित होकर नारी जागरण व स्त्री शिक्षा की ओर उन्मुख हो जीवन को नया अर्थ देती है।

“एक कोई था कहीं नहीं—सा’ वह उलटबाँसी है जो कश्मीरियों के जीवन का पर्याय बनकर रह गया है, क्योंकि आतंक, भय, हिंसा, रोजगार की खोज सब मिलकर अपना देश छोड़ने को तो विवश कर देते हैं, लेकिन निर्वासित मन को अपने प्रदेश की याद पल—पल निचोड़ती है।”⁷²

यह उपन्यास मानव संबंधों की एक उलझी पहेली है। एक ओर जहाँ अपने ही देश में लोग डायस्पोरा का जीवन जी रहे हैं तो दूसरी ओर आतंकवाद के साये में घाटी में रह रहे लोग अचानक गुम हुए अपने बेटे—बेटियों को तलाश रहे हैं। शरणार्थी शिविरों में लाखों निर्वासितों के बिखरे और उजड़े जीवन के ब्यौरे हमारे सामने तीखे और चुभते सवाल बनकर खड़े हो जाते हैं।

मीरा कांत लिखती हैं— “क्या हो गया है मेरे कश्मीर को। एक दिन चौन की साँस नहीं ले पाती है घाटी। क्यों?... एक तरफ सेंटर की राजनीति तो दूसरी ओर लोगों में बढ़ रहा मजहबी कट्टरपन। आतंकवादियों की हवस के आगे भी औरत सिर्फ औरत रहती है। क्या दुनिया में आतंक फैलाने के लिए बलात्कार भी एक हथियार नहीं बन गया है अब? बलात्कार, सामूहिक बलात्कार या बच्चों से की जाने वाली ज्यादतियाँ या कहें कि यौन—हिंसा।”⁷³

⁷² परिकथा, सितंबर—अक्टूबर 2010, पृष्ठ 142

⁷³ मीरा कांत, एक कोई था कहीं नहीं सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009, पृष्ठ 224

इस प्रकार यह उपन्यास उस कश्मीरियत को खोने की पीड़ा है जो सत्ता, राजनीति एवं आतंक की भेंट चढ़ गई। यहाँ इतिहास के तह में अनदेखी की जाती पीड़ा और सिसकियाँ हैं।

4. कहानी संग्रह : परिचय

(1) हाइफन

कहानी संग्रह 'हाइफन' की कहानियों में स्त्री के प्रति विषमता भरी स्थितियों में उपजे दर्द का प्रवाह लगातार बढ़ता चला जा रहा है। मीरा कांत की कहानियों में यह दर्द मानवीय जीवन मूल्यों की टेक चाहता है, सरोकारों की बाँहे थामे।

मीरा कांत की कथाकृति हाइफन का प्रकाशन समकालीन कथा साहित्य की एक विशेष घटना है। उक्त संग्रह में धरती का स्वर्ग कहे जाने वाले कश्मीर की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित दस कहानियों का समावेश किया गया है। आजादी की स्वर्ण जयंती मना चुकने के बाद भी यहाँ डर के पौधे उगते हैं। यहाँ प्रकृति तो क्या पशु-पक्षी भी आतंक के साये में चहचहाने के बजाय चीखते हैं। क्यों? यह चिंतनीय विषय है।

“मीरा कांत की कहानियों में नारी मुक्ति की आकांक्षा या उसके अपने होने का अहसास स्थान की व्यापकता से ही उकेरा जाता है। संग्रह की पहली कहानी 'काली बर्फ' की थीम तो कश्मीर में फैलाये गये सांप्रदायिक जहर से संबंधित है, मगर इस जहर का मूक प्रतिरोध इस भावना को जगाकर ही किया जाता है कि

देश, काल, किस तरह 'कौम' या संप्रदाय की एक नकली इमारत खड़ी करता है जिसके लिए कुर्बानी, जमीर आदि के नारे गढ़कर इंसान की आजादी, जिंदा रहने की आजादी, उसके होने की आजादी का हनन किया जाता है। एक कश्मीरी परिवार, बौखलू परिवार, कश्मीर में अपना तिमांजिला पुश्तैनी मकान छोड़ दिल्ली में बसा क्योंकि सांप्रदायिक जहर ने उन्हें वहाँ आतंकित कर दिया और उनके 'होने' को असंभव बना दिया।⁷⁴

कथा-संग्रह की कहानी 'दराज' रिश्तों और रिश्तों में बिताए पलों की स्मृति की कथा है। शनीमश शीर्षक कहानी के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की कड़वाहट का पता चलता है। इस कड़वाहट से लहू-लुहान हुआ है वह भरोसा जो इनके बीच वर्षों के साझे इतिहास ने स्थापित किया है।

भावनात्मक गहराइयों के साथ उकेरी गई मानव-मन की ऊहापोह इनमें अभिव्यक्ति के रचनात्मक आयाम प्रस्तुत करती है। कल्पनाशील शिल्प की सुगंध कहानी को एक अनूठे स्पंदन से भर देती है। भाषा के सहज प्रवाह के साथ बहती कथावस्तु अपने चेहरे का निखार देखती है तो आसपास बिखरे बिम्बों के असंख्य बुलबुलों में कथ्य और शिल्प का रागात्मक संबंध ही इन कहानियों की प्राणवायु है।

संकलन की आखिरी कहानी 'हाइफन' के केन्द्र में भी वही प्रेम भावना है जिस पर सांप्रदायिकता सबसे ज्यादा चोट करती है। प्रेम एक मानवीय मूल्य है, जिसकी अनुपस्थिति समाज को श्मशान बना सकती है। हाइफन में रागिनी

⁷⁴ कथाक्रम-7, अक्टूबर 1999, पृष्ठ 105

प्रेम-विवाह करती है अपने कल्चर से बाहर के युवक सत्येन्द्र रानाडे से, जबकि उसकी भतीजी गौरी शबीर नामक एक मुस्लिम युवक से प्रेम-विवाह करने का फैसला लेती है।

दोनों अपने-अपने तरीके से विद्रोह करती है— सड़ी गली मान्यताओं के खिलाफ। दोनों ही प्रेम को तरजीह देती हैं। इसीलिए गौरी का यह विद्रोह रागिनी को अच्छा लगता है। इस विद्रोह में स्वतंत्रता की एक अमूल्य भावना छिपी हुई है जिसे लेखिका ने हाइफन के बिम्ब से चित्रित किया है, क्योंकि यह हाइफन प्रेम-विवाह में भी नारी की अस्मिता को बरकरार रख सकता है। एक स्तर पर यह कहानी स्त्री-विमर्श को एक नया आयाम देती है।

इस संग्रह की कहानियों की खूबसूरती और प्राण उसकी भाषा की बिम्बात्मकता, शाब्दिक सौंदर्य और महक है। उर्दू के आम बोलचाल व समझ में आने वाले शब्दों की भरमार है जो मिठास समेटे हैं। कुल मिलाकर कहानी-संग्रह 'हाइफन' दस्तावेज है स्त्री होने के नाते, साथ ही जड़ों से उखड़ने की टीस समेटे समुदाय का हिस्सा होने के नाते भीतर बसे उस दर्द, उस चुभन के आलोक का जो अस्तित्व का प्रतिबिम्ब बन जाता है। वह दर्द जो दृष्टि देता है और मन को सीमाओं के संकुचन में नहीं विस्तार में आस्था रखने की राह दिखाता है।⁷⁵

⁷⁵ फ्लैप से, हाइफन, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998

(2) कागजी बुर्ज

‘कागजी बुर्ज’ की कहानियाँ स्थापित मूल्यों के गिरते बों पर चिपके कागजी पैबन्दों के सुराग को खोजती हैं। वो बुर्ज चाहे स्त्री को महिमामंडित करने वाली खोखली परंपराओं की आड़ हों या जीवन-संबंधों की जीर्ण-शीर्ण दंतकथाएँ।

‘कागजी बुर्ज’ मीरा कांत का दूसरा कहानी संग्रह है। चाहे स्त्री विमर्श हो या विस्थापन की पीड़ा, इतिहास की रिसती दीवारों के बीच घुटती स्मृतियाँ हों या आज की स्वार्थ लोलुपता और सामंती मनोवृत्ति के कारण लरजती मौन आहे, मीरा कांत की कहानियाँ इनकी तहों में जाकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म अवलोकन करती हैं और नये मूल्यों की स्थापना के लिए विकल दिखती हैं। छद्म आवरण में लिपटा प्रेम क्या महज एक छलावा है, क्या स्त्री जीवन हाशिये पर रहकर कागजी बुर्ज की तरह ढहने, गलने और मिटने का खौफ लिये अपनी अस्मिता पर हो रहे प्रहार देखने के लिए विवश है? ये हमारे समाज के सतत प्रश्न हैं।

‘कागजी बुर्ज’ संग्रह की पहली कहानी है, जिसमें नारी मन की व्यथा को इतिहास की फासीवादी मानसिकता के बीच पनपती सत्ता-लोलुपता और आज की उपभोक्तावादी संस्कृति के परिदृश्यों में उभारा गया है। नारी अस्मिता का पुरुष दृष्टि में अधिक महत्व नहीं। इतिहास ही नहीं वर्तमान में भी नारी देह भोग की वस्तु ही है। गली दुल्हन वाली, आत्म तर्पण, धामपुर, डोडो विसर्जन आदि कुल आठ

कहानियाँ हमारे आज का सच हैं।⁷⁶ जिसके नाम पर एक गली दुल्हनवाली से के नाम से प्रसिद्ध हुई, वही उस गली से बाहर निकाली गई। धामपुर में ब्याही गई दिल्ली की प्रभा को कोई धाम नहीं मिला। अपने जीजा की कुदृष्टि का शिकार होने से तो वह बच गई पर पति की हीन ग्रंथि और बहन की कोप दृष्टि से जिंदा लाश बनकर रह गई। इस कहानी संग्रह में स्त्री का स्त्री के प्रति शंका, वैमनस्य और डर के मनोभावों का सफल मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

स्मृतियों पर समय का कोई प्रभाव नहीं होता। वह हमेशा युवा होता है और मानव मन पर उसकी पकड़ बड़ी गहरी होती है। 'विसर्जन' कहानी में मीरा कांत ने इसी सच को खूबसूरती से उकेरा है। इस कहानी में एक पिता अपने फौजी बेटे की मौत के बाद उसकी यादों से आजाद होने के लिए उसकी सभी प्यारी चीजों को यमुना में विसर्जित कर देता है, लेकिन उसकी यादों से आजाद नहीं हो पाता।

पीपल और बकुल एक ओर प्रेम और विश्वास की कहानी है जो चंद्रधर शर्मा गुलेरी की, 'उसने कहा था' की याद दिलाती है, वहीं दूसरी ओर इस कहानी में तथ्य और सत्य के बीच के फर्क को बड़ी खूबसूरती से चित्रित किया गया है। कहानी में एक स्थान पर लेखिका कहती हैं— "जिसे हम इतिहास कहते हैं वह भी तो असल में जबरदस्त लोगों के इशारे पर लिखी गई समय की इबारत ही होती है।"⁷⁷

⁷⁶ राष्ट्रीय सहारा, हिन्दी दैनिक, 15 फरवरी, 2009

⁷⁷ मीरा कांत, कागजी बुर्ज, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण—2008, पृष्ठ 133

‘स्मृति पिंड’ संग्रह की आखिरी कहानी है। इस कहानी में विस्थापन का दर्द बयां किया गया है। स्मृतियाँ यहाँ मूर्त रूप में हैं। निर्वासन हो या पलायन, समय के साथ-साथ यह पीछे छूट गयी तहजीब का चेहरा तक भुला देता है। “मीरा कांत के लेखन की एक बड़ी विशेषता है कि सत्य के अनावरण के दरम्यान वह कथ-अकथ सब कुछ कहती हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में उनकी भाषा कहीं फूहड़ या अश्लील नहीं होती। कविता और गद्य के बीच की पारंपारिक दीवार ढहाती इस गरिमामई भाषा की बदौलत विचारों के प्रक्षेपण के दौरान भी कहानियों का कहानीपन अक्षुण्ण रहता है। निरुसंदेह इन कहानियों से होकर गुजरना एक अनुभव से होकर गुजरना है।”⁷⁸

मीरा कांत के इस संग्रह की ये कहानियाँ वस्तुतः स्त्री-जीवन और किसी-न-किसी रूप में मात खाए हुए मानव मन की ऊबड़-खाबड़ संरचना की अनवरत यात्रा है। चाहे भीतर जमी स्मृतियों के किनारे बसा डायस्पोरा का दर्द हो, इतिहास के गर्त में दबी-घुटी दूर से आती कोई आर्त पुकार हो, जिंदगी से धकियाएँ लोगों के चटखते सपने हों अथवा जीवन-संघर्ष में सामान्य-असामान्य को जुदा रखनेवाली लकीर पर चलते हुए लगभग संधि प्रदेश की दुनिया में जा पहुँची किसी स्त्री की बेबस तन्हा जिंदगी हो-ये सब सार्थक पड़ाव हैं उस रचनात्मक यात्रा के जो दुर्गम ऊँचाईयों और गहरी खाइयों के फासले तय करती हैं।

⁷⁸ परिकथा, नवम्बर-दिसम्बर, 2008, पृष्ठ 93

(3) गली दुल्हनवाली

कथाकार मीरा कांत की कहानियों का तीसरा संग्रह है 'गली दुल्हनवाली'। ग्यारह कहानियों के इस संग्रह की मूल चेतना परंपरा और आधुनिकता के अनेक संदर्भों के बीच संघर्षरत स्त्री-अस्मिता का चित्रण है। प्रेम की विलक्षणता, निजता की अद्वितीयता, संबंधों की उष्णता और उम्मीद की रोशनी से रची-पगी ये कहानियाँ उन कहानियों से अलग हैं, जहाँ कथावस्तु और कथानक का सृजन पूर्व नियोजित संयोजन की ऊब पैदा करता है। "मीरा कांत की कहानी-संग्रह 'गली दुल्हनवाली' पिछले कुछ संग्रहों की कहानियों को एक साथ प्रस्तुत करती हैं। इन कहानियों के जरिये वे स्त्री-प्रश्नों की पड़ताल के जीवन के विविध पहलुओं को अनुभव की आँखों से देखती हैं और बयान करती चलती हैं। इस मायने में 'कहाँ नहीं है मौल श्री', 'धामपुर' और 'गली दुल्हनवाली' इस संग्रह की अपेक्षाकृत बेहतर कहानियाँ हैं।"⁷⁹

संग्रह की उल्लेखनीय कहानी 'बाबूजी की थाली' है। अन्य कहानियों से अलग यह कहानी सहज अभियान व्यक्ति का प्रभावी अहसास कराती है। यह बिना किसी दार्शनिक विश्लेषण के छोटे-छोटे जीवंत दृश्यों के साथ पितृसत्तात्मकता की गुत्थियों को खोलती है। इस संग्रह की सबसे लम्बी कहानी 'आत्मतर्पण' है। 80 वर्षीय पूर्व डिप्टी सेक्रेटरी गिरिराज किशोर खंडहर हो चुकी हवेली का सौदा करने जन्मभूमि पहुँचते हैं। हवेली के चप्पे-चप्पे से गुजरते गिरिराज को तीन पीढ़ियों की

⁷⁹ समीक्षा, अप्रैल-जून 2010, पृष्ठ 44

कथा याद आती है। नायक को तीनों पीढ़ियाँ अलग-अलग तरीके से अधूरा या कहेँ शापग्रस्त नजर आती है। लौटते हुए थर्मस से पानी पीते समय पानी छलक जाता है और नायक को लगता है, उसने आत्मतर्पण किया। 'गली दुल्हनवाली' कहानी में स्त्री-जीवन से जुड़े उन ज्वलंत प्रश्नों और उसके संघर्ष को उठाया गया है, जिनसे भिन्न-भिन्न तबकों की स्त्रियाँ दो-चार होती हैं। नायिका नगीना यानी दुल्हन के बहाने औरतों के जीवन संघर्ष की प्रतिध्वनि बनकर उभारती है यह कहानी।

कथाकार मीरा कांत के इस तीसरे संग्रह में वह पहले से और अधिक रची-पगी भाषा में ग्यारह कहानियों में अपने साथ बहा ले जाने की सामर्थ्य लेकर उपस्थित हुई हैं। उनका कथाकार मन यह बखूबी जानता है कि कैसे कहानी को सार्वजनिक संवाद में बदल दिया जाता है। जीवन अनुभव कथाकार के यहां अनंत हैं। उनका प्रयोग वह कथा में पूरी सावधानी और कुशलता से इस तरह करती हैं कि उपलब्ध यथार्थ के बीच से अपेक्षित यथार्थ का मार्ग बनने की संभावना भी बनी रहे और पाँव हिम्मत भी न हारें। स्त्री के जीवन से जुड़े ज्वलंत प्रश्नों पर रचनात्मक बहस को आमंत्रित करने का माद्दा इन कहानियों में भरपूर है।

(4) प्रेम संबंधों की कहानियाँ

यह कहानी संग्रह मुख्य रूप से एक संपादित रचना है। यानी पिछले तीनों संग्रहों में से प्रेम से संबंधित कहानियों का संग्रह। संभवतः सभी कहानियाँ पूर्व के तीनों संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु महत्वपूर्ण है संपादक अनिल कुमार का

संपादकीय दृष्टिकोण। साथ ही महत्वपूर्ण है सुषमा भटनागर की लम्बी भूमिका। इस भूमिका में उन्होंने स्त्री-प्रश्नों की हिमायती भरा विचार-गाथा प्रस्तुत किया है।

“अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष पर विस्तृत अनुसंधान और नारीवादी लेखन के लिए पहचानी जाने वाली मीरा कांत छद्म नारीवादी के ढकोसले की अच्छी समझ रखती हैं। उनकी कहानियों में नारी स्वातंत्र्य के नाम पर मुक्त विचरण और केवल दैहिक अभिव्यक्तियों की स्वतंत्रता का जयघोष दूढ़े नहीं मिलता। जिस स्वातंत्र्य का लाभ आध बँटाई या चौथैया पर आधारित हो वह अनन्य अधिकार कैसे हो सकता है? बेलगाम पदार्थवाद या फिर स्त्री-पुरुष संबंधों में सार्वत्रिक मदोन्मत्त होली समतावादी समाज का आदर्श नहीं। दूरदर्शन के धारावाहिकों से होड़ करते हुए केवल विवाहेतर प्रेम-संबंधों की आहुतियाँ देना ही क्या प्रगतिकामी नारीवाद कहलाएगा?”⁸⁰

मीरा कांत का गद्य विचार प्रधान है जिसमें भावाकुल तन्मयता के क्षणों में भी वैचारिक तर्क-प्रक्रिया बराबर साथ-साथ चलती है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ आँख मूंदकर किसी वाद-विशेष का ध्वजारोहण नहीं करतीं। इस रूप में उनका साहित्य एकांतवादी है। उनकी प्रेम प्रसंगों की कहानियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। इस संग्रह की कहानियों में भी अनुभूति और विचार तत्व का दोराहा साथ-साथ चलता है जो सही मायने में आधुनिकता उत्तरोत्तर का है।

इन कहानियों में व्यग्र आवेश के भाव बोझिल क्षण को बहुत सब्र के साथ बेहद महीन काता गया है। यही कारण है कि जितनी बार इन प्रसंगों को पढ़ा जाये

⁸⁰ सुषमा भटनागर, प्रेम संबंधों की कहानियाँ, भूमिका, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2009

इनमें नए अर्थ टिमटिमाने लगते हैं। एक साथ राग और विराग की दो सरगम निभाने वाला यह प्रेम निराली धुन लिए है। अनिल कुमार के शब्दों में—

“नारी होने के नाते लेखिका ने स्त्री के मन की टीस को सहज भाषा में अभिव्यक्त किया है। कहानियों के पात्र आम जीवन से जुड़े पात्र हैं जो कहीं भी कभी भी किसी को भी अपने आसपास आसानी से मिल सकते हैं।”⁸¹

इस प्रकार मीरा कांत का नाटकेतर साहित्य भी काफी समृद्ध गद्य की श्रेणी में खड़ा होने में पूरी तरह सक्षम है।

⁸¹ अनिल कुमार, संपादक की ओर से, प्रेम संबंधों की कहानियाँ, मीरा कांत, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण—2009, पृष्ठ 8

संदर्भ

1. ईहामृग, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, संस्करण 2011, पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ 17
3. वही, पृष्ठ 18
4. वही, पृष्ठ 80
5. वही, पृष्ठ 84
6. वही, पृष्ठ 94
7. रंग प्रसंग, जुलाई-सितंबर 2007, पृष्ठ 41
8. पल्लैप से, नेपथ्य राग, दूसरा संस्करण 2006, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली
9. नेपथ्य राग, पृष्ठ 31
10. प्रो. अवध किशोर प्रसाद, वार्षिकी 2004, भारतीय साहित्य सर्वेक्षण, पृष्ठ 157
11. नेपथ्य राग, पृष्ठ 63-64
12. परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 84
13. भुवनेश्वर, गिरीश रस्तोगी, साहित्य अकादेमी मोनोग्राफ, पृष्ठ 43
14. प्रेमचंद, हंस, जून 1935, पृष्ठ 72-74

15. भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, दृश्य-पांच, पृष्ठ 45
16. भूमिका से, भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, पृष्ठ 7
17. भुवनेश्वर, गिरीश रस्तोगी, साहित्य अकादेमी मोनोग्राफ, पृष्ठ 13
18. हंस, मार्च 1989, साभार, भुवनेश्वर, मोनोग्राफ, पृष्ठ 15
19. जयदेव तनेजा, रंग प्रसंग (जुलाई-सितंबर 2007), अंक-27, पृष्ठ 42
20. भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, पृष्ठ 42
21. परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 86
22. भूमिका, कंधे पर बैठा था शाप, पृष्ठ 11
23. भूमिका, कंधे पर बैठा था शाप, पृष्ठ 15
24. वही, पृष्ठ 46-47
25. लोकायत, 16-31 दिसंबर 2007, पृष्ठ 44
26. इंडिया टुडे, 4 अप्रैल 2007, पृष्ठ 43
27. कंधे पर क्यों बैठा था शाप, पृष्ठ 42
28. परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 87
29. लोकायत, 16-31 दिसम्बर, 2007, पृष्ठ 44

30. मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 77
31. भूमिका, मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 64
32. मेघ-प्रश्न, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 85
33. भूमिका, काली बर्फ, कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी), पृष्ठ 91
34. परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007, पृष्ठ 87
35. जनसत्ता 21 फरवरी 2005, पृष्ठ 7
36. दैनिक जागरण, जागरण सिटी, नई दिल्ली-21, फरवरी 2005 काली बर्फ :
कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी से), पृष्ठ 102
37. काली बर्फ : कंधे पर बैठा था शाप (नाट्यत्रयी से), पृष्ठ 135
38. विसर्जन, कागजी बुर्ज कहानी-संग्रह से, पृष्ठ 110
39. स्मृति पिंड, कागजी बुर्ज कहानी-संग्रह से, पृष्ठ 142-143
40. डॉ. रमेश गौतम, हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, पृष्ठ 49
41. डॉ. नगेन्द्र, मिथक और साहित्य, पृष्ठ 7
42. www.merakant.com
43. www.merakant.com

44. डॉ. रमेश गौतम, रंगानभाव के बहुरंग, पृष्ठ 228
45. www.meerakant.com
46. नेमिचंद्र जैन, रंग परंपरा, पृष्ठ 12
47. हुमा को उड़ जाने दो, भूमिका, पृष्ठ 7
48. देवेन्द्र राज अंकुर, पहला रंग, पृष्ठ 54
49. हुमा को उड़ जाने दो, पृष्ठ 14
50. भूमिका से, अंत हाज़िर हो
51. अंत हाज़िर हो, पृष्ठ 8
52. भूमिका, उत्तर-प्रश्न, साहित्य-कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 5
53. भूमिका, उत्तर-प्रश्न, साहित्य-कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 3
54. उत्तर-प्रश्न, साहित्य कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 22
55. उत्तर-प्रश्न, साहित्य कला परिषद्, नई दिल्ली, पृष्ठ 22
56. मीरा कांत, तीन अकेले साथ-साथ, स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2013, पृष्ठ 7
57. महेश आनंद, rangvimarshblogs.com
58. rangvimarshblogs.com

59. मीरा कांत, तीन अकेले साथ-साथ (कागजी बुर्ज), स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ 88-89
60. पलैप से, पुनरपि दिव्या, मीरा कांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
61. दरियागंज, नई दिल्ली-2, प्रथम संस्करण-2000
62. वही, पृष्ठ 54
63. www.meerakant.com
64. मीरा कांत, ततः किम्, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2001, पृष्ठ 79
65. संवेद, जनवरी, 2010, पृष्ठ 223
66. www.meerakant.com
67. ज्योतिष जोशी, परिकथा, जुलाई-अगस्त, 2008, पृष्ठ 97
68. उर्फ हिटलर पेंगुइन बुक्स इंडिया, यात्रा बुक्स, दिल्ली संस्करण 2007, पृष्ठ 56
69. सुषमा भटनागर, लोकायत 1-15 मई, 2008, पृष्ठ 52
70. www.meerakant.com
71. इंडिया टुडे, 8 दिसम्बर 2010, पृष्ठ 60
72. परिकथा, सितंबर-अक्टूबर 2010, पृष्ठ 142

73. मीरा कांत, एक कोई था कहीं नहीं सा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009, पृष्ठ 224
74. कथाक्रम-7, अक्टूबर 1999, पृष्ठ 105
75. पलैप से, हाइफन, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1998
76. राष्ट्रीय सहारा, हिन्दी दैनिक, 15 फरवरी, 2009
77. मीरा कांत, कागजी बुर्ज, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2008, पृष्ठ 133
78. परिकथा, नवम्बर-दिसम्बर, 2008, पृष्ठ 93
79. समीक्षा, अप्रैल-जून 2010, पृष्ठ 44
80. सुषमा भटनागर, प्रेम संबंधों की कहानियाँ, भूमिका, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 2009
81. अनिल कुमार, संपादक की ओर से, प्रेम संबंधों की कहानियाँ, मीरा कांत, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009, पृष्ठ 8

पंचम अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखन में बदलते परिदृश्य : बढ़ते कदम

वैश्विक धरातल पर बदलते नारी चेतना के प्रवाह में नए आयाम जुड़ने लगे। सभी प्रबुद्ध चिंतकों ने चाहे वह भारतीय परिदृश्य के चिंतकों को चाहे पश्चिम के सभी ने नारी के अधिकारों को दिलाने के लिए आंदोलन किए, जिसके परिणामस्वरूप आज स्त्री को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्र में बराबरी का अधिकार मिला बन सहानुभूति बनाम लेखन स्वानुभूति बन गया, साहित्य जगत में महिला रचनाकारों के रचनात्मक लेखन के माध्यम से भूचाल आया, उन्होंने अपने मौलिक लेखन के माध्यम से साहित्य के क्षेत्र में उपस्थिति दर्ज कराई।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उपजे जीवन-मूल्यों लोकतांत्रिक-समतावादी अवधारणाओं को सत्ताधारी वर्ग के लोग कुचलने लगे, फलतः स्वतंत्रता आंदोलन से सन्नद्ध रही स्त्री-मुक्ति की विचारणा का वहीं हश्र हुआ, जो अन्य लोकतांत्रिक मूल्यों का हुआ। इन्हें भी राजनीति के एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जाना लगा। नतीजा यह हुआ कि भारतीय नारी को जिन स्थान पर पहुँचना था, वह नहीं पहुँच सकी। इसके बावजूद भारतीय जीवनधारा में आधुनिकता के प्रवाह के कारण इसकी स्थिति निरंतर बदलती रही। इधर भूमंडलीकरण और संचार क्रांति ने पूरी दुनिया की स्त्रियों में एक नवीन सार्वभौमिक चेतना को विकसित किया है। इन सबके कारण ही भारतीय नारी जहाँ परंपरागत कुरीतियों-रूढ़ियों-कुप्रथाओं से

काफी हद तक निकलने में सफल रही है, वहीं पश्चिमीकरण को आधुनिकता का पर्याय मान लेने के कारण जाने-अनजाने बाजारु-भोगवादी-अपसंस्कृति का शिकार भी बन गई है। ध्यातव्य है, कि ऐसा सिर्फ स्त्रियों के साथ ही नहीं, बल्कि पूरे भारतीय समाज के साथ हुआ है। पहले जो अंधविश्वास पाखण्ड, जड़ता आदि के नाम पर होता था, अब वहीं चीजें कुछ परिवर्तित होकर आधुनिकता-बोध के नाम पर हो रही है, जैसे पहले की कन्या वध की प्रथा अब स्त्री भ्रूण हत्या के नए रूप में पैर फैला रही है। परंपरागत वेश्यालयों और चकलाघरों में हो रहे देह-व्यापार का नया रूप 'कॉल गर्ल' के द्वारा सामयिक और स्थानीय सीमाओं की रेखा टूट गई है। शिशुओं को अपनी माँ ही स्तन का दूध पिलाने से परहेज करने लगी है, क्योंकि दूध पिलाने से उसके शारीरिक सौंदर्य के फीका पड़ने का खतरा है। यह अलग बात है, कि वह जिस डब्बा का दूध पिलाती है उस पर भी लिखा होता है, कि माँ का दूध बच्चों के लिए सर्वोत्तम है। स्त्रियों को वैधानिक संरक्षण और अधिकार मिले है, वहीं वह आज पहले से अधिक असुरक्षित हो गई है। स्त्रियों को वैधानिक संरक्षण और अधिकार मिले हैं या जलाई जा रही है, पहले जहाँ किसी स्त्री के प्रति अभद्र व्यवहार के प्रति पूरा समाज संवेदित होकर अपराधी को सबक सिखाने की सोच लेता था, तो आज की स्त्रियाँ अपने घर-परिवार में भी सुरक्षित महसूस नहीं कर रही है। यद्यपि ये सारी समस्याएँ अभी गिने-चुने रूप में ही प्रकट होती है, तथापि है, ये आज के वैश्विक बाजारीकरण की उपज, जिनकी हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। सन् 1970 के बाद से भारत में पश्चिमी ढंग के नारीवाद का आगमन हुआ। इससे पूर्व के स्त्री के सशक्तीकरण के सारे प्रयत्न सुधारात्मक और उदारवादी थे।

एक प्रकार से उदारवादी परिवर्तनकामी पुरुषों तथा अधिकारचेता स्त्रियों की सम्मिलित चेतना से महिला उत्थान के मानदंड स्थिर किए गए थे। पश्चिमी नारीवाद के आने से इसमें आक्रामकता—विद्रोहात्मकता बढ़ने लगी। महिलाओं ने पहली बार यह भावना प्रकट की कि अपने विकास के लिए उन्हें खुद आगे आना होगा, संगठित होकर संघर्ष करना होगा। परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर महिला संस्थाओं की स्थापना हुई, जिसके केन्द्र अनेक नगर महानगर बने, साथ ही प्रबुद्ध महिलाओं ने महिलाओं से जुड़े हर मुद्दों, विवादों तथा समस्याओं पर निर्भीक राय से जनमानस को अवगत कराया। इससे साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में नई बौद्धिक बहस की शुरुआत हुई। यद्यपि इनमें बहुत कुछ बेजड़ तथा फूहड़ किस्म की बहस भी थी। पर इसने किसी—न—किसी रूप में परंपरागत नारीत्व—बोध की जगह प्रतिवादी और सकारात्मक दोनों ही प्रकार की चर्चा—परिचर्चा आरंभ किया। सैकड़ों महिला संगठन इस समय कार्यरत हैं जिनमें दिल्ली की 'जागोरी', 'महिला दक्षता समिति', 'काती फॉर विमेन', 'कल्याणी', 'अखिल भारती जनवादी महिला समिति', 'अखिल भारतीय महिला परिषद्' कलकत्ता की 'नारी मुक्ति समिति', 'प्रगतिशील महिला मंच', 'सचेतना', 'महिला पोषयक', मुम्बई की 'महिला शोषण विरोधी मंच, मैत्रिणी', 'स्त्री—मुक्ति संगठन बिहार की 'महिला उत्पीड़न विरोधी संघर्ष समिति', 'जागो बहन', महिला जागरण संगठन और बंगलूर की 'विमोचना' एवं विमेंस वॉयस आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार के विभिन्न संगठनों एवं पत्रों के माध्यम से भारत में नारीवादी तत्त्वों को मजबूती मिली है। जिनके कारण पश्चिमी नारीवाद से अलग स्तर पर स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में पहचानने की कोशिश होती रही है।

समाजशास्त्री जरीना भट्टी के अनुसार, “भारत में यद्यपि विशेष सुविधा प्राप्त वर्ग की पढ़ी-लिखी महिलाएँ इस आंदोलन को चला रही हैं, लेकिन उसके मुख्य सरोकार ये हैं, कि कैसे निरक्षरता और गरीबी मिटाया जाए, कैसे ग्रामीण औरतों के स्वास्थ्य को सुधारा जाए, यही मुझे भारतीय स्त्रियों की प्राथमिकता में है, हमारे ये तीन मुख्य मुद्दे हैं— शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य।” इस तरह महिला संगठनों और पत्रिकाओं ने महिलाओं को भिन्न-भिन्न स्तरों पर जागृत किया है।

हर साल 8 मार्च को अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के रूप में मनाया जाता है, जिसका प्रमुख संदेश यही है, कि संसार भर की महिलाओं को मनुष्य के नात समानता प्रदान की जाए। कोई कार्य करने से उसे इसलिए नहीं रोका जाना चाहिए, क्योंकि वह महिला है। इसके साथ ही यह भी महसूस किया जाता है कि महिलाओं को इंसान के नाते मानवीय अधिकार तो मिलने ही चाहिए, साथ ही एक नारी होने के कारण उनके कुछ विशेष अधिकार भी हैं। इसीलिए अब जरूरत महसूस की जाने लगी है कि महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष लाने के लिए दुगुनी सहूलियतें देने की आवश्यकता है।

5.1 भारतीय नारी समाज के विविध वर्ग

भारतीय समाज, जो अपनी अनेक आयामी-बहुसंख्यी विशिष्टताओं से परिपूर्ण है, वहाँ स्त्रियों के संबंध संदर्भ एवं समस्याएँ एकरूपी नहीं हो सकती। जाति, क्षेत्र, संप्रदाय, वर्ग आदि के आधार पर सबके अपने-अपने रहन-सहन, कार्यकलाप और मान्यताएँ आवश्यकताएँ हैं, जिनके अनुरूप ही उनकी पारिवारिक-सामाजिक

परिस्थितियों का आंकलन किया जा सकता है। उसके बाद ही भारतीय नारी समाज की सर्वांग तस्वीर प्रस्तुत की जा सकती है, उसकी भूमिकाओं को भूमंडलीकरण के इस दौर में इन्हीं धरातलों पर समझा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया कि भारतीय समाज और संस्कृति का आधार वैविध्यपूर्ण एकता है। इसी भाँति भारतीय नारी की स्थिति और समस्याएँ अनेक स्तरीय है, जिसका वैज्ञानिक और तर्कसंगत वर्गीकरण काफी मुश्किल है।

यथा— कार्य के आधार पर घरेलू, कामकाजी एवं अभिजात्य, क्षेत्रीय आधार पर ग्रामीण, शहरी, पहाड़ी एवं जनजाति, पेशा के आधार पर कृषक, मज़दूर, कामकाजी एवं व्यापारी, सांप्रदायिक आधार पर हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख आदि, वर्गीय आधार पर निम्न, मध्य एवं उच्चवर्गीय महिलाएँ। इस प्रकार इसके अन्य अनेक आधार पर कृषक, मज़दूर, कामकाजी एवं व्यापारी, सांप्रदायिक आधार पर हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख आदि वर्गीय आधार पर निम्न, मध्य एवं उच्चवर्गीय महिलाएँ। इस प्रकार इसके अन्य अनेक आधार और उसके भेद हो सकते हैं, जिनमें सबकी विशिष्टताएँ एवं समस्याएँ होंगी। फिर भी मोटे तौर पर अगर आर्थिक आधार पर इनका विभाजन किया जाए तो तीन वर्ग निम्न, मध्य एवं उच्च वर्ग होंगे। हालाँकि भारतीय संदर्भ में ऐसा वर्गीकरण कोई ज्यादा प्रगतिशील नहीं कहा जाएगा, क्योंकि यहाँ भिन्नता का आधार सांस्कृतिक—सामाजिक अधिक है। धनी होकर भी आदिवासी औरतें अपनी विशिष्ट परंपरा में रहती है, तो गरीब सवर्ण औरतों की अपनी समस्या रहती है। गाँवों में प्रतिष्ठित परिवार और आर्थिक दृष्टि से सबल घर

में रहने वाली महिलाओं की समस्याएँ शहर के धनी और प्रतिष्ठित परिवारों से नितांत भिन्न होती है। फिर भी नीचे निम्न, मध्य और उच्च वर्ग के आधार पर महिलाओं की स्थिति का आंकलन प्रस्तुत किया गया है।

1. निम्नवर्गीय महिलाएँ

इस वर्ग के अंतर्गत वे सभी महिलाएँ आएँगी, जिनका जीवन निम्नस्तरीय है। प्रमुख से छोटे-छोटे कृषक-मजदूरों, कामगारों, दलितों, अति पिछड़ों एवं झुग्गीवासियों की महिलाएँ श्रेणी में आएँगी। इनके अतिरिक्त जनजाति महिलाएँ, गरीब सवर्ण महिलाएँ तथा वे सभी महिलाएँ जिन्हें जीवन की बुनियादी सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं, उन्हें निम्नवर्गीय ही मानना चाहिए। भारतीय समाज की लगभग 30 प्रतिशत आबादी ऐसी है, जिसे जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ— भोजन, वस्त्र और आवास— तीनों एक साथ उपलब्ध नहीं हैं, इन निम्न वर्ग की महिलाओं को अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घर से बाहर निकलकर काम करना होता है। ऐसा वे केवल अपनी जीविकोपार्जन के लिए करती हैं। खेतों में काम करने वाली छोटी-छोटी महिला मजदूरनी, लघु उद्योगों एवं फैक्ट्रियों में काम करने वाली महिलाएँ, निर्धन अनुसूचित जाति-जनजाति परिवारों की महिलाएँ इसके अंतर्गत आती हैं। इस रूप में इनमें पर्दा प्रथा का अभाव रहता है और मजबूरी में ही सही, इन्हें उच्चवर्गीय और मध्यवर्गीय परिवारों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक खुलापन और स्वतंत्रता उपलब्ध होती है। नगरों-महानगरों में ये झुग्गी-झोपड़ियों में रहती हैं और मेहनत-मजदूरी करती हैं, सम्पन्न परिवारों के घरों में दाई का कार्य करती हैं।

इस सिलसिले में कई बार इन्हें बड़े घरानों के पुरुषों की कुदृष्टि का शिकार भी होना पड़ता है। जनजाति समाज में भी स्त्रियों को पर्याप्त उन्मुक्तता प्राप्त होती है। अपने परिवार समाज में इनका स्वच्छंद पर जनजातीय संस्कारों के अनुकूल सांस्कृतिक विशिष्टता निहित होती है। “आदिवासी समाज के दैनिक क्रियाकलापों से स्त्रियों के जुड़ाव ने इन्हें इनकी संस्कृति का वाहक बना दिया है। उनके बगैर परिवार का अस्तित्व नहीं है। यह तो निश्चित बात है। पूरे समाज में औरतों की क्रियाशीलता ने इनके जीवन में अनेकानेक आयाम दिए हैं, जो हम सभ्यजनों के लिए प्रेरणा की बात। बनैले समाज में प्रकृति के साथ स्त्रियों के सीधे रिश्ते होते हैं। इनके द्वारा भोजन जुटाने के उत्तरदायित्व की परंपरा आज भी जंगलों में है।”¹

इन वनवासी स्त्रियों में अद्भुत कर्मव्यता होती है। ये खेत-खलिहानों तथा खादानों में अपनी श्रमशक्ति का भरपूर उपयोग करती है। इधर कुछ वर्षों से आधुनिक विकास के नाम पर जंगलों के वनवासी अकृत्रिम संस्कृति से इन्हें विस्थापित होना पड़ा है, जो चिंतनीय है। अब तो देह के दलाल यहाँ पहुँचकर भी ढाँबों में वनुपुत्रियों को पहुँचाकर देह-व्यापार कराने का काम करने लगे हैं।

निम्नवर्गीय महिला श्रमिकों को आमतौर पर सरकारी आंकड़ों में कामगारों की सूची में नहीं रखा जाता है। इन्हें छोटे-छोटे घरों में कटाई, बुनाई, रंगाई, छपाई, कुटाई, पिसाई, सफाई आदि का कार्य करते हुए उपेक्षित रहना पड़ता है। परंपरागत लोकलाज का ज्यादा भय इनमें नहीं होता। इस वर्ग से जो महिलाएँ देह-व्यापार में

¹ रविवार 19 अप्रैल, 1998, राष्ट्रीय, अमरेन्द्र किशोर वन पुत्रियाँ जीना हुआ मुहाल

संलग्न होती है, उन्हें आर्थिक परेशानी की वजह से यह धंधा अपनाना पड़ता है। लड़के-लड़की में उतना भेद नहीं होता, जितना मध्यवर्गीय परिवारों में होता है।

क्योंकि दोनों समान रूप आजीवन कमाते हैं। इन्हें रोजी-रोटी के लिए विस्थापित भी होना पड़ता है। शादी अपनी जाति में ही होती है तथा पति छोड़ने वाली या उससे छोड़ी जाने वाली औरतों तथा विधवाओं की शादी बाद में सहज भाव से हो जाती है, पर लड़कियों की शादी बहुत ही कम उम्र में होती है।

2. मध्यवर्गीय महिलाएँ

मध्यवर्गीय महिलाओं को घरेलू और कामकाजी दोनों भूमिकाओं को निभाना पड़ता है तथा पारिवारिक कार्यकलापों में हमेशा इनकी दोहरी जिम्मेदारी बनी रहती है। हालाँकि इन्हें जीवन की बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध होती है, पर इन्हें अन्य दूसरी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

चूँकि उच्च वर्ग के समान इन्हें साधन उपलब्ध नहीं होते तथा निम्न वर्ग की महिलाओं जैसी कार्य करने की आजादी प्राप्त नहीं होती, साथ ही एक ओर इन परंपरा का सबसे ज्यादा प्रभाव होता है, तो दूसरी ओर आधुनिकता का प्रबल दबाव भी इन्हें झेलना पड़ता है। परिणामस्वरूप ये इसी अंतर्द्वंद्व की चक्की में पिसती रहती है। ये छोटे व्यवसायों, नौकरीपेशा तथा कृषक परिवार से संबद्ध होती है। गाँवों में तो मध्यवर्गीय परिवार की महिलाओं को पर्दा में रखने को ही प्रतिष्ठा का प्रतिमान माना जाता है। इनका कार्य सिर्फ परिवारजनों के लिए भोजन बनाना तथा अन्य घरेलू कार्य करना होता है। कहीं-कहीं अध्यापन या उस जैसा कार्य भी करती है,

पर ऐसा कम मात्रा में ही होता है। शहरों में ये गृहकार्य के साथ विभिन्न कार्यालयों में कार्य करती है। इस प्रकार ये दोहरी भूमिका निष्पादित करती है। मध्यवर्गीय परिवारों की महिलाओं का कार्य दायरा विस्तृत बन जाता है। परंपरागत पितृसत्तात्मक मूल्यों के निर्वाह की अपेक्षा भी इस वर्ग की महिलाओं से की जाती है। जाति का बंधन सख्त होता है विवाह के मामले में, साथ ही विवाहोत्सव के अवसर पर पर्याप्त दहेज भी कन्या के साथ देना पड़ता है। फिर दहेज की प्रथा का शिकार होकर बहू रूप में इन्हें महिलाओं को हिंसा और प्रताड़ना झेलनी पड़ती है। इस वर्ग की विधवाओं के विवाह को अपमानजनक दृष्टि से देखा जाता है और यौन-शुचिता को बनाए रखने की उम्मीद भी इसी वर्ग की महिलाओं से समाज सबसे ज्यादा करता है। लड़की के लिए जीवन साथी चुनने का कार्य भी माता-पिता ही करते हैं। कन्या को लिंगगत भेदभाव का तथा कामकाजी महिलाओं को कार्यालय में यौन-उत्पीड़न का शिकार बनना पड़ता है। शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से कमाऊ होने के बावजूद पारिवारिक-सामाजिक मान्यताओं के नाम पर इन्हें निर्णय में भागीदार नहीं बनाया जाता है। फिर भी सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों से लाभान्वित होने के लिए यह वर्ग आगे आते हैं कन्या-भ्रूण हत्या सबसे ज्यादा मध्यवर्गीय परिवारों में होती है। कुछ समय से नारी की जागृति की वजह से पारिवारिक ढांचे में बदलाव आ रहा है। परिवार धीरे-धीरे पति-पत्नी और बच्चे तक सिमटता जा रहा है। अब तो पति-पत्नी में भी विलगाव के अनेक मामले सामने आ रहे हैं।

इस प्रकार मध्यवर्गीय नारी अनेक सामाजिक खूबियों और कमजोरियों के बीच से अपना मार्ग बना रही है। वर्तमान में उपभोक्ता का जो ज्वार चला है, उसने भी मध्यवर्गीय परिवार और उसकी औरतों को अपनी चपेट में लेकर सीमित साधनों से असीमित भोग करने की लालसा जगाकर इनकी बेबसी को और अधिक बढ़ा दिया है। यह वर्ग और उसकी महिलाएँ किसी भी समाज का मेरुदंड सदृश होती हैं, अतः इनकी विवशता समाज के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं हो सकता।

3. उच्च-अभिजात्यवर्गीय महिलाएँ

बड़े व्यवसायी, राजनेता, बड़े अफसरों के परिवारों की महिलाएँ इस वर्ग की होती हैं। इनके पति बड़े नौकरशाह, राजनेता या व्यवसायी होते हैं तथा इनके बच्चे-बच्चियाँ विदेशों में पढ़ते हैं। कहीं-कहीं ये खुद भी इस तरह के कार्य करती हैं। यह वर्ग सुविधाभोगी और शोक से जीवन जीता है। यह वर्ग पश्चिमी जीवन-मूल्यों को पहले-पहले अपने घर-परिवार में आयातित करता है, अपने जीवन में उतारता है तथा इसके बाद भारतीय समाज में इसे झोंकता है। इसलिए इस वर्ग की महिलाओं को अलग तरह की समस्याएँ झेलनी पड़ती हैं, जो पश्चिमी आधुनिकता के अंधानुकरण का दुष्परिणाम होती हैं। सामान्यतः यह परिवार पति-पत्नी और बच्चों तक सीमित होता है। बाद में दाम्पत्य में दरार से उत्पन्न समस्याओं का शिकार भी इन महिलाओं को बनना पड़ता है। पति-पत्नी में तलाक हो जाने तक की नौबत आ जाती है। सामाजिक स्तर पर ये महिलाएँ संपत्ति स्वामित्व से पूर्ण होती हैं तथा परंपरा, नैतिकता, धर्म, संस्कृति आदि को अपनी

प्रणयन क्षमता के बाधा के रूप में देखती है। विवाह के लिए इनके यहाँ जाति का बंधन नहीं होता तथा जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता सामान्यतः इन्हें रहती है। दहेज का कोई झंझट नहीं होता तथा यौन-शुचिता का इनके लिए कोई कड़ा बंधन नहीं होता तथा अपवादों की कभी भी कहीं कमी नहीं होती। भारत का उच्च-अभिजात्य वर्ग पश्चिमी रंग में पूरी तरह सराबोर है। पश्चिमी अतिरेकपूर्ण चिंतन तथा समाज व्यवस्था का यह वर्ग न केवल अनुकरण करता है, बल्कि उन्मुक्त बाजार व्यवस्था का प्रशक भी है। पश्चिम की उन्मुक्त यौन संबंधों वाली मान्यता को अनुचित नहीं मानता। विवाह-पूर्व और विवाहेत्तर यौन संबंधों से परहेज नहीं करता।

पति-पत्नी के रूप में जीवन में व्याप्त कामजन्य एकसरता को दूर करने के लिए अन्य पति-पत्नी जोड़ी से परस्पर यौन संबंधों के लिए अदला-बदली की प्रक्रिया भी अपनाता है। पश्चिम की सौंदर्य प्रतियोगिताओं से इस वर्ग की महिलाओं में नये ढंग का सौंदर्य-बोध जगा है, ये विश्व सुन्दरी बनने की झलक पालने लगी है। इसके लिए बेहिसाब प्रसाधनों का उपयोग करती है। बाद में माडलिंग और विज्ञापन में उतरकर भरपूर आनंद लेती है। प्रेम को थापार समझती है। पश्चिमी त्योहारों वेलेंटाइन डे को प्रेम के इजहार दिवस के रूप में मनाती है डेटिंग किसिंग को बुरा नहीं मानती तथा पुरुष सिद्रपरो के द्वारा कामजन्य आनन्द प्राप्त करती है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि इस वर्ग की समूची महिलाएँ उक्त तरह की होती है, फिर भी बाहुल्य ऐसी ही मान्यता रखने वालों का होता है वास्तव में भारत में इस

वर्ग के लोगों की संख्या कम है, जो है भी वह विदेशों में जाकर रह आना उचित समझाता है। लेकिन यह प्रभावी वर्ग है। सत्ता के शीर्ष से लेकर औद्योगिक कारोबार के उच्चतम स्तर तक इसकी न केवल प्रभावी वर्ग है। सत्ता के शीर्ष से लेकर औद्योगिक कारोबार के उच्चतम स्तर तक इसकी न केवल प्रभावी पैठ है, अपितु प्रत्येक परोक्षतः यह वर्ग उसका संचालन और निमंत्रण भी करता है, अपने हितों की अनदेखी नहीं होने देता। इन प्रकार लोकतांत्रिक समाज में लोक के बहुमत की अवहेलना कर अल्पमत की समस्या और समाधान को बहुसंख्यक महिलाओं पर थोपता है।

5.2 समकालीन नारी समाज के बदलते संबंध संदर्भ

समकालीन नारी चेतना देश और राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वभौमिक मानदंडों से निदिष्ट हो रही है। स्वयं महिलाओं में आ रही जागरूकता तथा बदलते पुरुष नजरिये ने जहाँ इसके सहज स्वाभाविक मानवीय चेतना को उद्बुद्ध किया है, वहीं वैश्विक बाजारवाद ने स्त्री देह का व्यवसायीकरण भी किया है। पश्चिमी नारीवाद के आगमन तथा औद्योगीकरण—शहरीकरण के कारण इसे नए परिप्रेक्ष्य प्राप्त नहीं हुए हैं। भूमंडलीकरण, संचार क्रांति एवं आर्थिक उदारीकरण की वजह से भारतीय नारी को नये-नये ढंग की उत्तर-आधुनिक अवधारणा पर गठित हो रही पश्चिमी सामाजिक स्थिति से साक्षात्कार करने का मौका मिला है। अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, महिला दशक, विश्व महिला सम्मेलन तथा महिला दिवस ने जहाँ पूरी दुनिया की आधी आबादी के समक्ष अपनी समस्याओं पर विचार करने का

अवसर प्रदान किया है, वहीं भारत सरकार द्वारा निर्मित कानूनों, अधिकारों, कार्यक्रमों, योजनाओं आदि ने इसके विकास परक आधार को परिपुष्ट किया है, नई चेतना का संचार किया है।

समकालीन भारतीय समाज संक्रमणकाल से गुजर रहा है, जहाँ परंपरागत नैतिकता आस्था एवं मूल्यों का विघटन हो रहा है, वहीं नवीन नैतिकता और मूल्यों का मजबूत आधार तैयार नहीं हो पा रहा है। भारतीय नारी भी इसी स्थिति से गुजर रही है। इसके समक्ष जहाँ एक एक ओर परंपरागत भारतीय संस्कारों की अपनी भूमि है, वहीं पश्चिमी आधुनिकता का एहसास भी। फलस्वरूप इसके पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक मूल्यों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। जिसने भारतीय नारी की दिशा और दृष्टि को प्रभावित भी किया है, और उससे प्रभावित भी हुआ है। नारी जीवन से संबद्ध महत्वपूर्ण आयामों—दाम्पत्य, प्रेम, विवाह, संतान, परिवार, रोजगार, संपत्ति स्वामित्व, यौन—नैतिकता तथा सौंदर्य आदि प्रतिमान बदलते हुए नये अर्थ—संबंध खोज रहे हैं, जिनका आगे हम अवलोकन करेंगे।

1. परिवार

नारी और परिवार में अन्योया संबंध है, वास्तव में नारी परिवार का प्राण होता है, और परिवार नारी का शरीर। एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। नारी ही वह धुरी है जिस पर परिवार टिका रहता है और परिवार ऐसा वातावरण है, जो नारी के लिए स्वर्ग या नरक का निर्माण इसी लोक में करता है। भारतीय संदर्भ में परिवार और कुटुम्ब का विशेष महत्व है। यह आत्मीयता और

मानवीयता का संगम स्थल है। भारत की परिवार व्यवस्था पूरी दुनिया के लिए अवलोकनीय रहा है, परंतु वर्तमान समय में यह पारिवारिक ढाँचा चरमराने लगा है। पश्चिम की आयातित भोगवादी-अस्तित्ववादी स्वार्थवृत्ति इसे खंडित कर रही है। अमेरिकी जो पश्चिमी विचारों और व्यवहारों का नेता है, आज वहाँ प्रतिशत 'सिंगल पैरेन्ट्स वाले' बच्चे हैं, अर्थात् जिनके माता-पिता दोनों के ब्यार से वंचित रहते हैं। ऐसा नहीं कि ये माता-पिता या दोनों इस दुनिया को छोड़ जाने के कारण अपनी संतानों को अकेले रख जाते हैं, वरन् रहते हैं ये इसी दुनिया में, पर किसी और के माँ या बाप बनकर। इसलिए अब वहाँ राष्ट्रसंघ के आह्वान पर 'परिवार वर्ष', 'वृद्ध वर्ष' काफी धूमधाम से माना जाने लगा है, दूसरी तरफ हम भारतीय हैं, जो पश्चिमी नकल की छोड़ में अपनी संयुक्त परिवार की परंपरा को तहस-नहस कर रहे हैं। यह ठीक है, कि इस प्रथा की अपनी कमियाँ हैं, जिसे सुधारने की जरूरत है, खासकर महिलाओं के संदर्भ में। इन्हें निर्णय में भागीदारी, संपत्ति में सहज हिस्सेदारी तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता देना ही होगा। इसके लिए यह कतई प्रलाप करने की जरूरत नहीं कि "जिस तरह हर संपत्ति-साम्राज्य लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिका होता है, ठीक उस तरह हर परिवार का ताना-बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता-विहीनता की बुनियाद पर खड़ा है- चाहे वह मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक ढाँचेवाला सामंती संयुक्त परिवार हो या पूँजीवादी ढंग से संगठित परिवार / परिवार वर्ग-निरपेक्ष संस्था नहीं।

परिवार का प्यार मूल्य-मुक्त प्यार होता ही नहीं। पूर्ण समानता और स्वतंत्र अस्मिता की चाहत रखने वाली कोई स्त्री भला क्यों चाहेगी कि बचा रहे परिवार?"² यह अलग बात है, कि इसी लेख के अंत में कात्यायनी ने जिस उच्चतर नैतिक और उदात्त धरातल पर मानवीय प्रेम वाली सामाजिक कोशिका की परिकल्पना प्रस्तुत की है, वह भी एक तरह का परिवारवाद ही है। यह सही है कि पारिवारिक मर्यादा स्त्री के लिए कभी-कभी बंधन सदृश लगती है, पर यह एक सुरक्षा कवच के समान भी होती है। बदलते परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक विघटन जाती है। 'छोटा-परिवार, सुखी-परिवार' तथा हम दो हमारे दो' वाली परिवार भावना भी अब टूटने लगी है और इसके लिए पुरुष व स्त्री दोनों समान रूप से जिम्मेदार है। स्त्रीत्व के

दमन के आधार पर न तो परिवार व्यवस्था सुदृढ़ हो सकती है, और न ही परिवार की कीमत पर स्त्री को आजादी दी जा सकती है। आवश्यकता केवल स्त्री-पुरुष के बीच सहज समान आधार देने की है। परिवार टूटने का सबसे ज्यादा दुष्प्रभाव बच्चों-बच्चियों और वृद्ध-वृद्धाओं को झेलना पड़ता है, जिसका जीता-जागता अंदाज़ा पालनाघरों में पल रहे बच्चे तथा वृद्धाश्रमों में रह रहे वृद्धजनों की वात्सल्यमयी आँखें देखकर लगाया जा सकता है। इसलिए केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने वृद्धाश्रमों और पालनाघरों को साथ-साथ चलाने-चलवाने का संकल्प व्यक्त किया है, जहाँ बच्चों को ममतामय प्यार मिलेगा तथा वृद्धों-वृद्धाओं के लिए वात्सल्य भावों को उद्दीप्त करने का आधार। इसलिए आज भी

² संपा. राजकिशोर, स्त्री, परंपरा और आधुनिकता कात्यायनी : क्यों बचा रहे यह परिवार, पृष्ठ 243

अपने देश की परिवार परंपरा को बचाये रखने की जिम्मेदारी स्त्री और पुरुष दोनों पर है और इसे हर हालत में बनाये रखनी होगी। परिवार में स्त्री को उचित सम्मान और दायित्व हासिल हो इसको सुनिश्चित करना चाहिए।

2. विवाह और तलाक

पहले विवाह का आधार पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक होता था, जिसके माध्यम से मान्यता प्रतिपादित थी, कि विवाह एक पवित्र और अटूट बंधन है, जन्म-जन्म तक साथ निभाने की संधि है, जिसे मृत्यु ही इकलोक में समाप्त करती है। पर अब विवाह परंपरा धीरे-धीरे अवसरवादी समझौता बनती जा रही है। स्त्रियों के मामले में इसे बंधन वाली जंजीर बताया जाने लगा है। इसका आधार बदलकर रोमांस या प्रेम रूप लेने लगा है, जिसे जब चाहे तलाक द्वारा तोड़ा जा सकता है। यद्यपि इसमें दहेज जैसे कुरीति से मुक्ति रहती है तथा स्त्रियों के लिए जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता रहती है तथापि इसकी बुनियाद कमजोर होती है। फलतः दाम्पत्य में दरार उत्पन्न होने लगता है।

पिछले दो दशकों से पति-पत्नी के रिश्तों में कटुता और टूटन बढ़ी है। उषा महाजन के अनुसार “औरतों की आज़ादी और उनकी समानाधिकारों की माँग ने दाम्पत्य संबंधों के पारंपरिक ढाँचे को तोड़ दिया है। महिलाएँ अब पति के गलत व्यवहार को चुपचाप सहन नहीं करती। आर्थिक स्वतंत्रता ने उसमें एक प्रकार की सुरक्षा और आत्म-सम्मान की भावना को जन्म दिया, जो हमारे पुरुष प्रधान समाज में 'अहम्' के टकरावों का कारण बन गई है। आपसी समझ की भावना के अभाव में

छोटी-छोटी समस्याएँ की विकराल रूप धारण कर पति-पत्नी के परस्पर संबंधों में जहर जोतने लगी है।” वर्तमान नारी बोध के अंतर्गत विवाह को नारी के विकास की दृष्टि से बाधक माना जाने लगा है। दाम्पत्य का आधार भी विवाह है। यद्यपि हिन्दू धर्म में यह एक परंपरागत संस्कार है, जिसमें तमाम विसंगतियाँ— बाल विवाह, बहुविवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह आदि विद्यमान रही है, तथापि महिलाओं के समर्थन से यह कायम रहा है। लेकिन जैसे-जैसे स्त्री जागृत हो रही है, अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही है, वैसे-वैसे यह विवाह और दाम्पत्य संबंध तेजी से विघटित होता जा रहा है। आज तलाक की सुलभता ने इस संबंधों के निर्वाह को और कठिन बना दिया है। तलाक तो किसी स्त्री के लिए अंतिम अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा मजबूरी का साधन है। यद्यपि इसके बाद भारतीय समाज में नारी को सम्मानजनक नजरों से नहीं देखा जाता। परिव्यक्ताएँ पुनर्विवाह या पुनर्सम्मान प्राप्त करने के लिए दर-दर भटकती हैं और कभी-कभी उन्हें पहले से अधिक कष्ट उठाना पड़ता है।

वस्तुतः कोई भी पति नहीं चाहता कि उसके द्वारा रखी गई पत्नी तलाक होने के बाद भी किसी और की पत्नी बने। तलाक की बढ़ती संख्या निश्चय ही चिंता का विषय है। इसलिए वैवाहिक और दाम्पत्य जीवन को ही इतना संतुलित बनाया जाना चाहिए कि तलाक की नौबत ही न आए। इधर विवाह या दाम्पत्य को कठोर बंधन मानते हुए, आधुनिक युवतियों में दिनोदिन अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। यह प्रवृत्ति शहरों तक ही सीमित है, और जब साधारण समाज में

अविवाहित पुरुष को ही सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता, तो फिर अविवाहित स्त्री की किन नजरों से देखा जाएगा इसका अनुमान लगाया जा सकता। अतः अनेक कुरीतियों को समेटे हुए विवाह का आज भी कोई विकल्प नहीं है। हाँ इससे संबद्ध सारी बुराईयों को मिटाने की जरूरत अवश्य है।

3. मीडिया और विज्ञापन

जनसंचार माध्यमों का तेजी से हुए विकास एवं विस्तार के कारण दुनिया में संचार-क्रांति संभव हुई है। सूचनाओं के आधार पर वैश्वीकरण की अवधारणा बलवती हुई है। लेकिन आज के इस भूमंडलीकरण का आधार संवेदनापरक न होकर बाजारवाद भोगवाद है, जहाँ पूरा विश्व के लोग परस्पर नजदीक आये हैं। स्त्रियों के बारे में भी पूरा विश्व समुदाय चिंतित हुआ है। दूसरी ओर मीडिया संस्कृति ने सौंदर्य प्रतियोगिता, रॉक शो, बॉलीवुड की फिल्मों के कामोत्तेजक दृश्यों तथा विज्ञापन में स्त्री का देह-उधाड़ू प्रदर्शन करके नारी जाति को कुत्सित प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर किया है तथा इससे पुरुष जाति में भी विकृत सोच पैदा किया है। इससे स्त्री का समाज के प्रति तथा समाज का स्त्री का देह-उधाड़ू प्रदर्शन करके नारी जाति को कुत्सित प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर किया है तथा इससे पुरुष जाति में भी विकृत सोच पैदा किया है। इससे स्त्री का समाज के प्रति सकारात्मक सोच पर आधारित न होकर उसकी कामुकता को उभारते हुए पैसा उगाहने का एक यंत्र तक ही बन सका है। दूरदर्शन एवं चलचित्रों के माध्यम से कामजन्य हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ायी जा रही है, जो तरह-तरह से नए रूपों में स्त्री हिंसा को बढ़ावा दे

रही है। बच्चों के समक्ष रोजाना काम और हिंसा के ढेर सारे प्रदर्शन के द्वारा उन्हें ऐसा बना दिया जा रहा है, कि वे थोड़े दिनों के बाद यह समझ नहीं पाएंगे कि कामजन्य हिंसा बुरी चीज़ भी होती है।

विज्ञापन आधुनिक व्यावसायिक युग तथा बाजारु समाज व्यवस्था का प्रमुख अंग है। अपनी बाजारु उत्पादित वस्तुओं के लिए निजी कंपनियों नारी की मांसल और वासना रंजित छवि को माध्यम बनाकर विज्ञापन करती है, जहाँ विज्ञापित वस्तु और स्त्री देह की सुलभता एकाकार हो जाती है। इस प्रकार स्त्री स्वयं सामग्री के रूप में विज्ञापित हो जाती है। उपभोक्ता के समक्ष ये विज्ञापन विज्ञापित वस्तु तथा स्त्री देह के भोग को साथ-साथ उपलब्ध कराते हैं। सुंदर और महत्वाकांक्षी लड़की ऐसे विज्ञापनों में अत्यधिक पैसे के लोभ में अपने शरीर का प्रदर्शन करने के लिए राजी हो जाती है। पैसे के बल पर उनसे उन वस्तुओं का विज्ञापन कराया जाता है जिनका प्रयोग वे खुद उचित नहीं मानती। शोहरत और पैसे की चाह वाली लड़कियों के 'विज्ञापन' एक कमाऊ पेशा के रूप में सामने आया है। मॉडल और हीरोइन बनने का सपना आधुनिक युवतियों में पल-बढ़ रहा है, जिसका एकमात्र कारण आज का संचार माध्यम है।

विज्ञापन की दुनिया में स्त्री से संबद्ध प्रायः दो रूप प्रस्तुत होते हैं, पहला स्त्री के कमनीय रूप का प्रदर्शन तथा दूसरा, परंपरागत जड़ रूढ़ियों के अनुरूप स्त्री की छवि निर्मित करना, जहाँ कपड़े धोने, साज श्रृंगार करने तथा खाना बनाने जैसे कार्यों को स्त्री की पहचान के रूप में निरूपित किया जाता है।

वैसे तो स्त्री अशिष्ट रूपेण अधिनियम सन् 1986 के तहत ऐसे सभी विज्ञापनों पर प्रतिबंध है जो किसी भी प्रकार नारी का अश्लील—अशिष्ट रूप प्रदर्शित करते हैं, तथापि आजकल इन माध्यमों पर स्त्री की कामुक छवि का भरपूर इस्तेमाल हो रहा है। सुभाषिणी पालीवाल के अनुसार, यह विज्ञापन साधारण शक्ल—सूरत की स्त्रियों में अनिवार्य रूप से एक गहरी हीन भावना, अपराध—बोध और अधूरेपन का एहसास पैदा कर देता है। अतः औरतें अपनी बदसूरती को छिपाकर पर्दे या चमकीले मुख पृष्ठों की नायिकाओं सी दिखने की कोशिशें करती हैं।

एक बिकाऊ जिनिंस की तरह स्त्री देह का यह बेशर्म प्रयोग सबसे अधिक अंतर्वस्त्रों के विज्ञापनों में दिखाई देता है, जहाँ मॉडल की तस्वीरें जान—बूझकर इस तरह खींची जाती हैं कि उनके शरीर का अधिकांश भूगोल साफ—साफ झलकने लगे और तस्वीर की रही—सही कमी जरूरी स्थानों पर उजाले तथा रोड का टच देकर प्रोसेसिंग के दौरान पूरी कर ली जाती है— पर अन्य वस्तुओं के विज्ञापनों में भी इसके बीसियों उदाहरण मिल जाएंगे। एक विकासशील समाज में उचित प्रसार सामाजिक बदलाव में सहायक हो सकता है। पर हमारी भोग—विलास उन्मुख व प्रतियोगिता पर आधारित व्यवस्था में विज्ञापन का प्रयोग सामाजिक चेतना के विकास को विकृत करने में और सक्रिय रूप से पिछाड़ने के लिए किया जा रहा है। ऐसे विज्ञापन भारतीय स्त्री विमुक्ति आंदोलन को हानि पहुँचाने में काफी सफल हुए हैं।³

³ सुभाषिणी पालीवाल, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता, भूमिका

दूसरी ओर ऐसे विज्ञापनों की वकालत करने वालों की भी कमी नहीं है। सुधीश पचौरी के अनुसार, “अब देह लज्जा का विषय नहीं रही है, इसके सबसे पहले उदाहरण स्त्री के लिए नैपकिन के विज्ञापन है। हमें लगता है कि इस एक विज्ञापन से स्त्री देह को स्त्री के लिए तो नया अर्थ दिया ही है, पुरुष क्षेत्रों में भी स्त्री-देह के वर्जित प्रसंगों को खोला है। यह भारतीय किस्म का लिंग-विमर्श है, जो विज्ञापन ने तथा अन्य माध्यमों के अन्य रंजक रूपों ने पैदा किया है ‘रजस्वला स्त्री’, ‘असमाजिक’ नहीं है जैसा कि कहा जाता है। यह देह के स्नावयिक विकास को सामाजिक वैधता देता है। पुल्लिंग-विमर्श यहीं से तो स्त्री को लज्जावनत करके, शर्मिन्दा करके, उसका आखेट करता रहा है। अब तक स्त्री देह की परिभाषा मर्दों द्वारा तय की गई थी। इसमें स्त्रियों को सदियों से दीक्षित किया गया था। अब यह परिभाषा टूट रही है। स्कर्ट स्त्री देह को नए सिरे से परिभाषित कर रही है। वह किसी हद तक परिभाषा से बाहर आ रही है।”⁴

ऐसे तर्कों के लिए पहले ही कहा जा चुका है कि यह स्त्री के शोषण के लिए आधुनिक मर्दवादी विमर्श है, जो बार-बार स्त्री-देह के खुलने का औचित्य ठहरा रहा है। कभी इसे उत्तर-आधुनिक नारीवाद विमर्श के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो कभी मार्क्सवादी स्त्री-चिंतन के रूप में, पर है यह वास्तव में स्त्री के शोषण का नया मर्दवादी नजरिया ही, जो स्त्री की पराधीनता को देह की गुलामी मानता है। उससे मुक्ति के लिए शरीर को खोलकर प्राप्त करने का रास्ता दिखाता

⁴ राष्ट्रीय सहारा, 9 अगस्त 1958, स्कर्ट नैपकिन और भारतीय संस्कृति

है। वास्तव में मीडिया को स्त्री के उत्थान के कार्यक्रमों को प्रश्न देना चाहिए, न कि स्वतंत्रता प्रदर्शित कराने के नाम पर नयी गुलामी थोपनी चाहिए।

राजनीतिक चेतना

सन् 1995 ई. में बीजिंग के चौथे विश्व महिला सम्मेलन का एक मुख्य विषय महिलाओं के राजनीतिक सबलीकरण का था। यद्यपि मताधिकार तथा उम्मीदवार बनने के लिए अधिकार पहले से ही इन्हें प्राप्त है तथापि महिलाओं की भागीदारी विधायिकाओं में अत्यल्प रही है। लोकतंत्र के लिए इतनी बड़ी आबादी की अनुपस्थिति चिंताजनक है, इसलिए महिला नेत्रियों तथा भारतीय नेताओं ने महिलाओं के लिए अलग से आरक्षण की अनिवार्यता बतायी है। दूसरी तरफ यह नेता महिलाओं से जुड़ी किसी घटना—दुर्घटना पर क्षुब्ध राजनीति करने से नहीं हिचकते हैं। जैसे बिना आरक्षण के भी ममता बनर्जी, सुषमा स्वराज, उमा भारती, गिरिजा ब्याज, मीरा कुमार मायावती, रेणुका चौधरी, नजमा हेपतुल्ला मोहसिना किदवई, जयललिता, सुमित्रा महाजन आदि अनेक नेत्रियों ने राजनीति में अपना स्थान बनाया है, तथापि महिलाओं की संख्या को देखते हुए आज भी इनकी भागीदारी कम है। यद्यपि ज्यादातर राजनीतिक दलों ने महिलाओं को पार्टी से जोड़ने के लिए अलग से महिला मोर्चा का गठन किया है, जो पार्टी से महिलाओं को जोड़ती भी है। पर व्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि इन मोर्चों में बड़े नेताओं के परिजनों व सगे संबंधियों का ही कब्जा है। जो अन्य स्त्रियाँ वहाँ जाना चाहती हैं, उनका शारीरिक—मानसिक शोषण किया जाता है। नेताओं की शोषण वृत्ति तथा

महिलाओं की अति महत्वाकांक्षा की वजह से स्त्री देह का दोहन भी किया जाता है तथा इसके बल पर निजी संबंधों वाली स्त्रियाँ ही आगे बढ़ पाती हैं। वास्तविक रूप से कार्य करने वाली तथा स्त्रियों की समस्याओं के प्रति संवेदनशील स्त्रियाँ पीछे रह जाती हैं। राजनीति के मौजूदा दौर में जब भ्रष्टाचार, अपराधीकरण और तिकड़म राजनीति करने के लिए साधन बन गए हैं, तब महिलाओं की अधिक भागीदारी बढ़ाने से सुराज के लिए इनकी उल्लेखनीय भूमिका हो सकेगी। इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए लोकतांत्रिक ईकाईयों लोकसभा विधान और सभाओं में महिलाओं की उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए आरक्षण का प्रावधान किया जा रहा है।

यह भागीदारी पंचायती राज के द्वारा पहले ही प्रदान की जा चुकी है, जिसका उल्लेखनीय सुपरिवार सामने आ रहा है। अनेक पंचायतों में महिलाओं एवं पुरुषों के कार्यों को देखने पर पता चलता है कि पुरुषों की अपेक्षा महिला सदस्यों की प्राथमिकता कहीं अधिक हितकारी व व्यावहारिक समाधान से जुड़ी है। जाहिर है कि पंचायतों में 33 प्रतिशत आरक्षण महिलाओं को दस वर्ष पहले से भी प्राप्त है। हिमाचल प्रदेश में 1985 से ही पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी है। पंचायती के लिए चुनी गई महिलाओं के प्रमाणित कर दिया है, कि कुछ एक अपवादों को छोड़कर वे अपने बल पर पुरुषों से बेहतर कार्य करने की क्षमता रखती हैं। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए आरक्षित सीटों में से एक तिहाई महिलाओं के लिए है। पंचायत समितियों में एक तिहाई ऐसी ग्राम पंचायतें हैं, जहाँ औरतें ही सरपंच बनती हैं। जिले में एक तिहाई ऐसी पंचायत स्थितियाँ हैं, जिसकी अध्यक्ष सिर्फ महिलाएँ ही बन सकती हैं। राज्य में एक तिहाई ऐसी

जिला-परिषदें हैं, जहाँ औरतें ही अध्यक्ष बन सकती हैं। इसके अलावा सभी सामान्य सीटों पर वे चुनाव लड़ सकेगी। इस प्रकार स्थानीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी से उनमें स्वचेतना, आत्मविश्वास तथा अस्तित्वबोध के एहसास की संभावनाएँ अंतर्निहित है।

संसद और विधानसभाओं में भी इसी तरह के आरक्षण लागू करने को लेकर पर्याप्त खींचातानी चल रही है। सर्वप्रथम डॉ. राममनोहर लोहिया ने पिछड़ों, अल्पसंख्यकों और शुद्रों के साथ महिलाओं को रखते हुए आरक्षण का विरोध कर रहे हैं, जिसकी ओर प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक सुरेन्द्र मोहन ने संकेत करते हुए लिखा है कि “नारियों को नरों की बराबरी की वकालत करने वाले सभी नेता वही है जो अगड़ी-पिछड़ी जातियों की समानता के हिमायती थे। उनमें महात्मा ज्योतिराव फुले, स्वामी दयानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, डॉअम्बेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया के नाम प्रमुख हैं। वे सभी नेता जाति और योनि पर आधारित विषमता को मिटाना चाहते हैं। जब पिछड़ी जातियों के नेता विधायिकाओं में महिलाओं को आरक्षण देने का विरोध करते समय इस तर्क को पेश करते हैं कि उससे अगड़ी महिलाओं को ही लाभ मिलेगा तो इस पूरी परंपरा को भुला देते हैं। वे यह भी विस्मरण कर देते हैं, कि समाजवादी कर्पूरी ठाकुर ने बिहार के मुख्यमंत्री के तौर पर जब आरक्षण संबंधी विधेयक प्रस्तुत किया, तो उन्होंने पिछड़े-अतिपिछड़ों के साथ महिलाओं का कोटा भी अलग से तय किया था।”⁵

⁵आजादी के पचास वर्ष : क्या खोया, क्या पाया भाग 2, सुरेन्द्र मोहन : समता का त्रिकोण, पृष्ठ 138

आरक्षण बिल पुनः लोकसभा में पेश किया जा चुका है, जिस पर वाजपेयी सरकार आम सहमति की कोशिश में है। यह उम्मीद की जाना चाहिए कि यह विधेयक जल्दी ही पास होकर कानून का रूप लेगा, जिससे विधायिकाओं का आपराधिक और हिंसक होता जा रहा स्वरूप बदलेगा तथा लोकतंत्र को 'आंधी दुनिया' की ताकत भी मिलेगी। यह सचमुच महिलाओं के लिए तो ऐतिहासिक फैसला होगा ही, देश की राजनीति के लिए नया मोड़ सिद्ध होगा।

संदर्भ

1. रविवार 19 अप्रैल, 1998, राष्ट्रीय, अमरेन्द्र किशोर वन पुत्रियाँ जीना हुआ मुहाल
2. संपा. राजकिशोर, स्त्री, परंपरा और आधुनिकता कात्यायनी : क्यों बचा रहे यह परिवार, पृष्ठ 243
3. सुभाषिनी पालीवाल, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता, भूमिका
4. राष्ट्रीय सहारा, 9 अगस्त 1958, स्कर्ट नैपकिन और भारतीय संस्कृति
5. आजादी के पचास वर्ष : क्या खोया, क्या पाया भाग 2, सुरेन्द्र मोहन : समता का त्रिकोण, पृष्ठ 138

उपसंहार

आज के वर्तमान परिदृश्य में साहित्य पूर्ण रूप से विमर्शों का युग रहा है, दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-अस्मिता विमर्श आदि ने साहित्य को एक अलग पहचान दी। आज इस उत्तर-आधुनिकता के दौर में आधी आबादी मुख्य रूप से साहित्य के केन्द्र में है, स्त्री-विमर्श साहित्य की सभी विधाओं में मुख्य रूप से केन्द्र में है। भारतीय संविधान सभी नागरिकों को समानता का अधिकार देता है। परन्तु क्या यह सवाल आज भी प्रासंगिक नहीं है कि हमारे समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय है? बदतर है? स्त्री-समानता का पक्षधर विधेयक आज भी संसद में लम्बित है। यही सही है कि परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्रगामी नहीं होती, फिर भी लैंगिक असामनता, जेंडर भेद, पृसत्तात्मक व्यवस्था आदि समाज के सामने प्रश्न खड़े करते हैं। भारतीय समाज में वैसे ही नारी को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है बल्कि व्यावहारिकता रूप से उसके नागरिक होने की स्थिति भी अभी संदेहास्पद ही है। भारतीय समाज व्यवस्था के नियामक मनु ने नारी को सदैव पुरुष के अधीन रहने की प्रेरणा देकर सम्पूर्ण स्त्री-जाति के विकास की संभावनाओं पर प्रतिबंध लगाकर समाज की रूढ़िबद्धता के तंत्र को मजबूत करके देश में नारी के भविष्य पर अनेक प्रश्नचिह्न लगा दिए। सामान्य नारी की इस दुर्दशा ने भारतीय समाज में व्याप्त पुरुषसत्ता की स्थिति को भी सुदृढ़ किया और स्त्री-पुरुष लिंग-भेद को बढ़ावा दिया। भारतीय समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था में उसे विद्याध्ययन और सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया था। उसके सामाजिक जीवन को प्रतिबंधित

कर उसे घर की चारदीवारों और परिवार की परिधि में कैद करके रख दिया। जहाँ तक स्त्री के त्रासदी का प्रश्न है, उत्पादन और आर्थिक गतिविधियों में योगदान न होने के कारण उनका जीवन कुण्ठा और अंतर्विरोधों से त्रस्त रहा। दहेज से प्रताड़ित और वैधव्य की विडम्बना से पूर्ण नाटकीय जीवन जीने के लिए स्त्री आकशप्त रही। समाज में विधवा नारी का जो दैहिक मानसिक और यौन-शोषण हुआ वह किसी नरक से कम नहीं आंका जा सकता। दलित वर्ग की स्त्री की स्थिति इससे भी निम्नतर है, धन, धरती और सत्ता से वंचित रहने के कारण

दलित-वर्ग की स्त्री का यौन-शोषण इतर वर्ग के लोगों द्वारा आसान रहा। इस स्थिति का लाभ तथाकथित उच्च वर्ग के पुरुषों ने दलित वर्ग की नारी के साथ व्यभिचार द्वारा उठाया। अपने दैहिक और यौनिक शोषण की पीड़ा को नारी ने अपने स्त्री-जीवन की नियति मानकर स्वीकार किया। वस्तुतः समाज की उन्नति और निर्माण में स्त्री-पुरुष समान रूप से सहभागी है। किसी भी समाज की उन्नति का अनुमान उस समाज में महिलाओं की प्रगति के आधार पर लगाया जा सकता है। नारी की उन्नति और विकास के अभाव में परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है यद्यपि भारतीय समाज स्त्री-पुरुष के पारम्परिक और पारस्परिक सम्बंध पर बल देता है किन्तु भारतीय समाज के भीतर व्याप्त परिवारों में स्त्री-पुरुष संबंधों की स्थिति-इतनी स्पष्ट नहीं है। महसूस किया जाता है कि भारतीय परिवारों में पुरुष-स्त्री पर प्रभावी है, स्त्री को वह एक वस्तु मानता है, गुलाम की भाँति उसे रखना चाहता है, उस पर अपने अधिकार और वर्चस्व चाहता

है। पुरुष ने एक ऐसी पारिवारिक संरचना का निर्माण किया है जहाँ सम्वाद नहीं केवल आदेश है, तिरस्कार है।

जहाँ पुरुष समानधर्मी सहचर के रूप में नहीं बल्कि शासक के रूप में हैं। पुरुष की इस मानसिकता की जाँच करें तो एक बेहद जटिल व मानसिक विचार उभरकर सामने आता है, वह है पुरुष की श्रेष्ठ, उत्कृष्ट होने की एकांगी व दुराग्रही सोच अर्थात् पुरुष का अहम्। पुरुष अहम् के पीछे सर्वसाधनों, संसाधनों, सत्ता, शासन, स्त्री, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने का विचार है।

पुरुष अहम् स्त्री अधिनीकरण की जटिल संरचना को स्थापित करता है पुरुष का अहम् केवल कुछ पुरुषों की मानसिकता नहीं है बल्कि एक समाज, व्यवस्था है, जो घर, परिवार, राज्य समाज आदि सम्बंधों में निहित है। साथ ही यह धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि संवैधानिक तथा संस्थागत ढाँचों में भी व्याप्त है। पुरुष मानसिकता एवम् पुरुष अहम् को किसी अतीत अवस्था का अवशेष नहीं कहा जा सकता, वह तो निरन्तर 2500 वर्षों की क्रमिक विकसित प्रक्रिया का परिणाम है। स्त्री-आन्दोलन और दुनिया भर में उससे उपजे नारीवादी विमर्श का एक महत्वपूर्ण पहलू विश्लेषण के लिए ऐसे उपकरणों और सिद्धान्तों की खोज रहा है, जिसके जरिए सामान्य तौर पर जेंडर विभेदीकरण को और विशेषकर महिलाओं के अधिनीकरण को समझा जा सके। चूँकि नारीवादी अध्ययन एक नया क्षेत्र है। इसलिए नारीवादी विमर्श का लगभग पहला कार्य यही था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए और उसे एक उचित नाम

दिया जाए। इस प्रकार 20वीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया। पितृसत्ता की सबसे उपयोगी और मुकम्मल परिभाषा गर्डा लर्नर दी है:—

“पितृसत्ता परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्त और संस्थागतकरण तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। इसका अभिप्राय है कि पुरुषों का समाज के सभी महत्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रहता है और महिलाएँ ऐसी सत्ता तक पहुँच से वंचित रहती हैं।”

मीरा कांत की रचनाओं में 'आधी-आबादी का सच प्रमुखता पाता है। युगों-युगों से नेपथ्य में पड़ी नारी मन का केन्द्र की तरफ पहुँचने की छटपटाहट इनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाता है। यह वजह है कि इनकी रचनाओं में स्त्री-प्रश्न मुँह बाये खड़े मिलते हैं मीरा कांत के स्त्री-विमर्श का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि देश-काल चाहे कोई भी हो, बुद्धिमती-विदुषी स्त्री को पुरुष-समाज कभी सह नहीं पाता। 'नेपथ्य राग' में चौथी-पाँचवीं सदी की रचना हो या बीसवीं, इक्कीसवीं सदी की मेधा, 'कन्धे पर क्यों बैठा शाप' की विद्योतमा हो या कामिनी-सबकी जिंदगी और नियति इसी अभिशाप से निर्धारित और परिचालित होती है। आज के आक्रामक स्त्री-विमर्श और स्वच्छंतवादी आधुनिकता के बावजूद स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। हाँ, समयानुसार पुरुष द्वारा स्त्री को अपने हक में इस्तेमाल करने के तरीके बदल गए हैं।

प्रो. रमेश गौतम के अनुसार— “आज की तिथि में मीरा कांत सबसे श्रेष्ठ, सक्रिय नाटककार हैं। उनके नाटक स्त्री—अस्मिता की कुलबुलाहट को सच्चाई से बयां करते हैं। इनके नाटक सिर्फ स्त्री—विमर्श की ही पैरोकारी नहीं करते, वरन् वर्तमान समस्याओं पर विश्व—समुदाय का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारतीय जीवन की सच्चाईयों को नए प्रश्नों से जोड़ना उनके नाटकों की खासियत है। पश्चिम की आक्रामकता उनमें लेश नहीं है।”

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

नाटक संग्रह

1. मीरा कांत : ईहामृग, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण-2011
2. मीरा कांत : नेपथ्य राग, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई दिल्ली-03, द्वितीय संस्करण-2006
3. मीरा कांत : कंधे पर क्यों बैठा था शाप, नई किताब, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण-2013
4. मीरा कांत : भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर, मेधा बुक्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32, प्रथम संस्करण-2011
5. मीरा कांत : हुमा को उड़ जाने दो, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2008
6. मीरा कांत : उत्तर प्रश्न, साहित्य कला परिषद्, नई दिल्ली, संस्करण-2011
7. मीरा कांत : अंत हाज़िर हो, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई दिल्ली-03, प्रथम संस्करण-2012

8. मीरा कांत : पुनरपि दिव्या, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस,
दरियागज, नई दिल्ली-02, प्रथम
संस्करण-2008
9. मीरा कांत : तीन अकेले साथ-साथ, स्वराज प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम
संस्करण-2013

अन्य आधार ग्रंथ

10. मीरा कांत : ततः किम्, राधाकृष्ण प्रकाशन जगतपुरी,
दिल्ली-51, प्रथम संस्करण-2001
11. मीरा कांत : उर्फ हिटलर, पेंगुइन बुक्स, पंचशील पार्क, नई
दिल्ली-17, प्रथम संस्करण-2009
12. मीरा कांत : एक कोई था कहीं नहीं-सा वाणी प्रकाशन,
दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम
संस्करण-2009
13. मीरा कांत : हाइफ़न, किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई
दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-1998
14. मीरा कांत : कागजी बुर्ज़, भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई
दिल्ली-03, प्रथम संस्करण-2005

15. मीरा कांत : गली दुल्हन वाली, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2009
16. अनिल कुमार : प्रेम सम्बन्धों की कहानियाँ, नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-02, प्रथम संस्करण-2009

संदर्भ ग्रंथ

1. व्होरा आशारानी, भारतीय नारी, दशा और दिशा।
2. व्होरा आशारानी, नारी शोषण, आईने और आयाम।
3. व्होरा आशारानी, नारी विद्रोह के भारतीय मंच।
4. भट्ट उदयशंकर, अम्बा
5. प्रसाद किशोर अवध, भारतीय साहित्य सर्वेक्षण, वार्षिकी 2004
6. प्रीतम अमृता, 'औरत : एक दृष्टिकोण', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975
7. जैन अरविंद, 'औरत होने की सजा', विकास पेपर बैक्स, संस्करण-1996
8. मदान इन्द्रनाथ (संपा.), 'हिन्दी उपन्यास: पहचान और परख', लिपि प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1993
9. मुखर्जी कनक, वूमेंस इमेलियेशन मूवमेंट इन इंडिया
10. रस्तोगी गिरीश, भुवनेश्वर, साहित्य अकादमी, मोनोग्राफ
11. तनेजा जयदेव, रंग-प्रसंग, अंक-27, पृष्ठ 42

12. तनेजा जयदेव, आधुनिक भारतीय नाट्य-विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण-2010, नई दिल्ली
13. प्रसाद जयशंकर, ध्रुवस्वामिनी, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2010
14. जोशी, ज्योतिष, परिकथा, जुलाई-अगस्त, 2008
15. देसाई नीरा, भारतीय समाज में नारी
16. ओझा, दशरथ, हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास, राजपाल प्रकाशन, संस्करण-2008
17. नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक
18. राय नरनारायण, नाटककामा, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1993
19. बब्बर जहीर नादिरा जी, जैसी आपकी मर्जी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
20. जैन, नेमिचंद्र, रंग परंपरा
21. मीराकांत, अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक और हिंदी पत्रकारिता
22. खेतान प्रभा, स्त्री: उपेक्षिता, सीमोन-व-बोउवार, हिन्द पॉकेट बुक्स, संस्करण-2004
23. भारतेंदु ग्रन्थावली-भाग-1, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
24. मोहन राकेश, आधे-अधूरे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण
25. गौतम रमेश, हिन्दी साहित्य का पुनर्लेखन, हिन्दी विभाग, कक्ष संख्या-15, दिल्ली विश्वविद्यालय

26. गौतम रमेश— हिन्दी नाटक, नई परख, स्वराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण—2010
27. शर्मा रामविलास, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा का विकास
28. पालीवाल सुभाषिणी, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता।
29. माहेश्वरी सरला, नारी प्रश्न
30. शुक्ल रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण—2002
31. तिवारी रामचंद्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण—2002
32. तिवारी रामचंद्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण—1992
33. मंगलमूर्ति, वीरेन्द्र नारायण ग्रंथावली, भाग—2, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण—2010
34. गौतम रमेश, हिन्दी नाटक : मिथक और यथार्थ, अभिरूचि प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण—1997
35. सुनो शेफाली, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण—1979
36. गौतम रमेश, रंगानुभव के बहुरंग
37. राजकिशोर, स्त्री परंपरा और आधुनिकता काव्यायनी : क्यों बचा रहे यह परिवार
38. मोहन सुरेन्द्र, आजादी के पचास वर्ष : क्या खोया क्या पाया

पत्र-पत्रिकाएँ / इंटरनेट

1. प्रभात खबर, 17 मई, 2008
2. www.meerakant.com
3. सबला, अक्टूबर-नवंबर, 1997, पृष्ठ 11
4. रंग-प्रसंग, अंक-27, पृष्ठ 42
5. टुवार्ड्स इक्वैलिटी, पृष्ठ 42
6. वेक अप इंडिया, ऐनी बेसेन्ट, पृष्ठ 40
7. हम सबला, संपादिका, जूही जैन, मार्च-अप्रैल 2009
8. परिकथा, जुलाई-अगस्त 2007
9. हंस, प्रेमचंद, जून 1935
10. हंस, मार्च 1989, भुवनेश्वर, मोनोग्राफ
11. परिकथा, जुलाई-अगस्त, 2007
12. लोकायात, 16-31 दिसंबर, 2007
13. इंडिया टुडे, अप्रैल 2007
14. जनसत्ता, 21 फरवरी 2005
15. दैनिक जागरण, जागरण सिटी, नई दिल्ली, 21 फरवरी 2005
16. पहला रंग-देवेन्द्र राज अंकुर
17. rangvimarshblogs.com - महेश आनंद
18. संवेद- जनवरी, 2010

19. कथाक्रम— अक्टूबर 1999
20. राष्ट्रीय सहारा, 15 फरवरी 2009
21. समीक्षा, अप्रैल—जून, 2010
22. पालीवाल सुभाषिनी, भारत में महिला शिक्षा और साक्षरता
23. राष्ट्रीय सहारा, स्कर्ट नैपकिन और भारतीय संस्कृति 9 अगस्त 1958

मीराकांत के साहित्य संसार में 'स्त्री'

कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय
की
पीएच.डी. उपाधि
के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबंध की संक्षिप्त रूपरेखा



निर्देशक
गणेश. बी. पवार

शोधार्थी
वसुन्धरा शर्मा

हिन्दी विभाग
कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय
2020

विषय सूची

1. मीरा कांत के रचना संसार में स्त्री
 - 1.1 रचनात्मक व्यक्तित्व
 - 1.2 रचनाएँ
 - (1) नाटक
 - (2) उपन्यास
 - (3) कहानी— संग्रह
 - (4) लम्बी कविताएँ
 - (5) बाल— साहित्य
 - (6) शोध
 - (7) अनूदित साहित्य
 - (8) अनुवाद
2. भारत में 'स्त्री जागरण एवं आन्दोलन' विभिन्न पड़ावों का संक्षिप्त सर्वेक्षण 'स्त्री स्वतंत्रता, स्त्री मुक्ति'
 - 2.1 भारतीय दृष्टि : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 2.2 नवजागरण काल में कुप्रथाओं के विरुद्ध संघर्ष
 - (क) आर्य समाज आंदोलन
 - (ख) प्रार्थना समाज आंदोलन
 - (ग) देशी—विदेशी महिलाओं का योगदान
 - (घ) अन्य सुधारकों का प्रयत्न
 - 2.3 नारी संस्थाओं और पत्रिकाओं का योगदान
 - (क) गाँधी जी द्वारा महिलाओं का आह्वान
 - 2.4 पश्चिमी दृष्टि
 - 2.5 नारीवाद
 - (क) उदारवादी नारीवाद
 - (ख) मार्क्सवादी नारीवाद
 - (ग) रेडिकल नारीवाद
3. स्त्री—प्रश्न और हिन्दी के प्रमुख नाटक
 - 3.1 भारतेन्दु के नाटक
 - 3.2 प्रसाद युग के नाटक

- 3.3 प्रसादोत्तर नाटक
- 3.4 समकालीन नाटक
- 4. मीरा कांत के साहित्य संसार में स्त्री
 - 4.1 नाट्य साहित्य में स्त्री
 - (1) ईहामृग
 - (2) नेपथ्य राग
 - (3) भुवनेश्वर दर भुवनेश्वर
 - (4) कंधे पर क्यों बैठा शाप
 - (5) मेघ—प्रश्न
 - (6) काली बर्फ
 - (7) बहती व्यथा सतीसर
 - (8) हुमा को उड़ जान दो
 - (9) अंत हाजिर हो
 - (10) उत्तर—प्रश्न
 - (11) तीन अकेले साथ—साथ (एकल—नाट्य)
 - (12) पुनरवि दिव्या, (नाट्य—रूपांतरण)
 - 4.2 नाटकेत्तर साहित्य में स्त्री
 - (1) ततः किम्
 - (2) उर्फ हिटलर
 - (3) एक कोई था कही नहीं—सा कहानी संग्रह : परिचय
 - (1) हाइफन
 - (2) कागजी बुर्ज
 - (3) गली दुल्हन वाली
 - (4) प्रेम संबंधों की कहानियाँ
- 5. स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखन में बदलते परिदृश्य बढ़ते कदम
 - 5.1 भारतीय नारी समाज के विविध वर्ग
 - (1) निम्नवर्गीय महिलाएँ
 - (2) मध्यवर्गीय महिलाएँ
 - (3) उच्च अभिजात्यवर्गीय महिलाएँ

5.2 समकालीन नारी समाज में बदलते संबंध संदर्भ

- (1) परिवार
- (2) विवाह और तलाक
- (3) मीडिया और विज्ञान
- (4) राजनीति चेतना

उपसंहार

उपसंहार

आज के वर्तमान परिदृश्य में साहित्य पूर्ण रूप से विमर्शों का युग रहा है, दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-अस्मिता विमर्श आदि ने साहित्य को एक अलग पहचान दी। आज इस उत्तर-आधुनिकता के दौर में आधी आबादी मुख्य रूप से साहित्य के केन्द्र में है, स्त्री-विमर्श साहित्य की सभी विधाओं में मुख्य रूप से केन्द्र में है। भारतीय संविधान सभी नागरिकों को समानता का अधिकार देता है। परन्तु क्या यह सवाल आज भी प्रासंगिक नहीं है कि हमारे समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय है? बदतर है? स्त्री-समानता का पक्षधर विधेयक आज भी संसद में लम्बित है। यही सही है कि परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्रगामी नहीं होती, फिर भी लैंगिक असामनता, जेंडर भेद, पृसत्तात्मक व्यवस्था आदि समाज के सामने प्रश्न खड़े करते हैं। भारतीय समाज में वैसे ही नारी को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है बल्कि व्यावहारिकता रूप से उसके नागरिक होने की स्थिति भी अभी संदेहास्पद ही है। भारतीय समाज व्यवस्था के नियामक मनु ने नारी को सदैव पुरुष के अधीन रहने की प्रेरणा देकर सम्पूर्ण स्त्री-जाति के विकास की संभावनाओं पर प्रतिबंध लगाकर समाज की रूढ़िबद्धता के तंत्र को मजबूत करके देश में नारी के भविष्य पर अनेक प्रश्नचिह्न लगा दिए। सामान्य नारी की इस दुर्दशा ने भारतीय समाज में व्याप्त पुरुषसत्ता की स्थिति को भी सुदृढ़ किया और स्त्री-पुरुष लिंग-भेद को बढ़ावा दिया। भारतीय समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था में उसे विद्याध्ययन और सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया था। उसके सामाजिक जीवन को प्रतिबंधित

कर उसे घर की चारदीवारों और परिवार की परिधि में कैद करके रख दिया। जहाँ तक स्त्री के त्रासदी का प्रश्न है, उत्पादन और आर्थिक गतिविधियों में योगदान न होने के कारण उनका जीवन कुण्ठा और अंतर्विरोधों से त्रस्त रहा। दहेज से प्रताड़ित और वैधव्य की विडम्बना से पूर्ण नाटकीय जीवन जीने के लिए स्त्री आकशप्त रही। समाज में विधवा नारी का जो दैहिक मानसिक और यौन-शोषण हुआ वह किसी नरक से कम नहीं आंका जा सकता। दलित वर्ग की स्त्री की स्थिति इससे भी निम्नतर है, धन, धरती और सत्ता से वंचित रहने के कारण

दलित-वर्ग की स्त्री का यौन-शोषण इतर वर्ग के लोगों द्वारा आसान रहा। इस स्थिति का लाभ तथाकथित उच्च वर्ग के पुरुषों ने दलित वर्ग की नारी के साथ व्यभिचार द्वारा उठाया। अपने दैहिक और यौनिक शोषण की पीड़ा को नारी ने अपने स्त्री-जीवन की नियति मानकर स्वीकार किया। वस्तुतः समाज की उन्नति और निर्माण में स्त्री-पुरुष समान रूप से सहभागी है। किसी भी समाज की उन्नति का अनुमान उस समाज में महिलाओं की प्रगति के आधार पर लगाया जा सकता है। नारी की उन्नति और विकास के अभाव में परिवार, समाज और राष्ट्र की उन्नति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है यद्यपि भारतीय समाज स्त्री-पुरुष के पारम्परिक और पारस्परिक सम्बंध पर बल देता है किन्तु भारतीय समाज के भीतर व्याप्त परिवारों में स्त्री-पुरुष संबंधों की स्थिति-इतनी स्पष्ट नहीं है। महसूस किया जाता है कि भारतीय परिवारों में पुरुष-स्त्री पर प्रभावी है, स्त्री को वह एक वस्तु मानता है, गुलाम की भाँति उसे रखना चाहता है, उस पर अपने अधिकार और वर्चस्व चाहता

है। पुरुष ने एक ऐसी पारिवारिक संरचना का निर्माण किया है जहाँ सम्वाद नहीं केवल आदेश है, तिरस्कार है।

जहाँ पुरुष समानधर्मी सहचर के रूप में नहीं बल्कि शासक के रूप में हैं। पुरुष की इस मानसिकता की जाँच करें तो एक बेहद जटिल व मानसिक विचार उभरकर सामने आता है, वह है पुरुष की श्रेष्ठ, उत्कृष्ट होने की एकांगी व दुराग्रही सोच अर्थात् पुरुष का अहम्। पुरुष अहम् के पीछे सर्वसाधनों, संसाधनों, सत्ता, शासन, स्त्री, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने का विचार है।

पुरुष अहम् स्त्री अधिनीकरण की जटिल संरचना को स्थापित करता है पुरुष का अहम् केवल कुछ पुरुषों की मानसिकता नहीं है बल्कि एक समाज, व्यवस्था है, जो घर, परिवार, राज्य समाज आदि सम्बंधों में निहित है। साथ ही यह धार्मिक, शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि संवैधानिक तथा संस्थागत ढाँचों में भी व्याप्त है। पुरुष मानसिकता एवम् पुरुष अहम् को किसी अतीत अवस्था का अवशेष नहीं कहा जा सकता, वह तो निरन्तर 2500 वर्षों की क्रमिक विकसित प्रक्रिया का परिणाम है। स्त्री-आन्दोलन और दुनिया भर में उससे उपजे नारीवादी विमर्श का एक महत्वपूर्ण पहलू विश्लेषण के लिए ऐसे उपकरणों और सिद्धान्तों की खोज रहा है, जिसके जरिए सामान्य तौर पर जेंडर विभेदीकरण को और विशेषकर महिलाओं के अधिनीकरण को समझा जा सके। चूँकि नारीवादी अध्ययन एक नया क्षेत्र है। इसलिए नारीवादी विमर्श का लगभग पहला कार्य यही था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए और उसे एक उचित नाम

दिया जाए। इस प्रकार 20वीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया। पितृसत्ता की सबसे उपयोगी और मुकम्मल परिभाषा गर्डा लर्नर दी है:—

“पितृसत्ता परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्त और संस्थागतकरण तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। इसका अभिप्राय है कि पुरुषों का समाज के सभी महत्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रहता है और महिलाएँ ऐसी सत्ता तक पहुँच से वंचित रहती हैं।”

मीरा कांत की रचनाओं में 'आधी-आबादी का सच प्रमुखता पाता है। युगों-युगों से नेपथ्य में पड़ी नारी मन का केन्द्र की तरफ पहुँचने की छटपटाहट इनकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाता है। यह वजह है कि इनकी रचनाओं में स्त्री-प्रश्न मुँह बाये खड़े मिलते हैं मीरा कांत के स्त्री-विमर्श का केन्द्रीय बिन्दु यह है कि देश-काल चाहे कोई भी हो, बुद्धिमती-विदुषी स्त्री को पुरुष-समाज कभी सह नहीं पाता। 'नेपथ्य राग' में चौथी-पाँचवीं सदी की रचना हो या बीसवीं, इक्कीसवीं सदी की मेधा, 'कन्धे पर क्यों बैठा शाप' की विद्योतमा हो या कामिनी-सबकी जिंदगी और नियति इसी अभिशाप से निर्धारित और परिचालित होती है। आज के आक्रामक स्त्री-विमर्श और स्वच्छंतवादी आधुनिकता के बावजूद स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया है। हाँ, समयानुसार पुरुष द्वारा स्त्री को अपने हक में इस्तेमाल करने के तरीके बदल गए हैं।

प्रो. रमेश गौतम के अनुसार— “आज की तिथि में मीरा कांत सबसे श्रेष्ठ, सक्रिय नाटककार हैं। उनके नाटक स्त्री—अस्मिता की कुलबुलाहट को सच्चाई से बयां करते हैं। इनके नाटक सिर्फ स्त्री—विमर्श की ही पैरोकारी नहीं करते, वरन् वर्तमान समस्याओं पर विश्व—समुदाय का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारतीय जीवन की सच्चाईयों को नए प्रश्नों से जोड़ना उनके नाटकों की खासियत है। पश्चिम की आक्रामकता उनमें लेश नहीं है।”

प्राक्कथन

स्त्री-पुरुष संबंधों की आधारशिला का मूल्यांकन हमेशा से इतिहास पुरुष की दृष्टि और उसके कलम के सहारे से करता आया है। 'सेक्स' और 'जेंडर' की अस्पष्ट व्याख्या के सहारे निर्मित हुआ आरंभिक महिलावादी दृष्टिकोण धीरे-धीरे वैज्ञानिक व्याख्या को प्राप्त करने के क्रम में तीक्ष्ण भी होता गया है। समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की बुनियाद पर विकसित हुई आधुनिक समाज व्यवस्था में भी स्त्री अपनी पहचान, हक और अधिकारों के लिए पुरुष निर्मित विधि की मोहताज रही। स्त्री की राजनैतिक, सामाजिक शून्यता को भरने का काम कला के हिस्से में आई जिसने विमर्श के रूप इसे आगे बढ़ाने का काम किया। चर्च के प्रभाव से मुक्त होकर पाश्चात्य चिंतन जैसे-जैसे मानवतावादी झुकाव हासिल करता गया, पश्चिम का समाज स्त्री समानता और स्त्री पहचान के स्वर की अभिव्यक्ति का जमीन बनता गया। इस रूप में कहा जा सकता है कि 'स्त्री विमर्श' एक विमर्श के रूप में स्थापित होने लगी थी।

भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री की मुखर अभिव्यक्ति का संबंध भारतीय आधुनिकता, नवजागरण, धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलनों और स्वतंत्रता के लिए गए राष्ट्रीय आंदोलन से है। जिन आदर्शों से प्रेरित होकर भारतीय स्वाधीनता की यात्रा तय की गई थी उसका स्पष्ट प्रभाव भारतीय गणतंत्र की मूल संरचना में देखा जा सकता है जहाँ राज्य अपने नागरिकों से अन्य बातों

के अलावा 'लिंग' आधारित भेदभाव की मनाही करता है। सार्वभौमिक मताधिकार के अधिकार की घोषणा के साथ ही भारत ने राजनैतिक क्षेत्र में लिंग आधारित भेदभाव पर करारा प्रहार किया था। इन सबके बावजूद समाज व्यवस्था की सदियों की जकड़न ने स्त्री को दोगुना दर्जे का ही माना। कुछ पश्चिम से प्रारंभ हुए विमर्श के प्रभाव से तो कुछ नव्य मध्यवर्ग के उदय एवं स्त्री चिंतकों के प्रभाव से स्त्री साहित्य, कला, समाज के चिंतन में केन्द्रीय भूमिका प्राप्त करने लगी थी।

जब नारी के उत्थान के लिए पूरा विश्व तत्पर था, तब भारतीय समाज क्यों पीछे रहे। हिन्दी जाति भी भारतीय नारी चेतना का स्वर मुखर करे, यह अपेक्षा स्वाभाविक ही थी। पिछले दो-ढाई दशकों से हिन्दी में महिला लेखन को लेकर विशेष चर्चा-परिचर्चा चली है। लेकिन पश्चिम से आयातित प्रभाव के कारण कुछ नामी लेखिकाओं ने नारी की समस्या को काम-वासना की समस्या मानकर एक देह धारा की सरिता बहायी, जिसका सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य से कोई लगाव नहीं था। लेकिन इसी बीच से कुछ लेखिकाएँ ऐसी भी आयी, जिन्होंने महिला लेखन को सामाजिक-सांस्कृतिक आधार प्रदान कर व्यापक महिला हितों से संबद्ध करने का कार्य किया।

मीराकांत उन्हीं में से एक है उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री-चिंतन की संपूर्ण संभावनाओं को नये तरीके से प्रस्तुत करने का प्रयास

किया है। उन्होंने हाशिए पर पड़ी नारी को नेपथ्य से हटाकर केन्द्र में लाकर खड़ा किया है। इतना ही नहीं उन्होंने कश्मीरी विस्थापन की समस्या व भुवनेश्वर जैसी साहित्यिक प्रतिभाओं को अपने साहित्य में प्रधानता देकर साहित्य के लिए लंबे समय तक अछूत रहे विषय को केन्द्र में लाने का काम किया। प्रस्तुत शोध कार्य उनके इन्हीं योगदानों की तलाश है।

प्रथम अध्याय में मैंने मीराकांत के रचनात्मक व्यक्तित्व व लघु रूप में उनकी साहित्यिक उपलब्धि को उजागर करने का प्रयास किया है, जिसके अंतर्गत सूक्ष्म रूप में उनके संपूर्ण साहित्य का विवरण दिया है।

दूसरे अध्याय में 'स्त्री जागरण' से संबंधित 'स्त्री-विमर्श' के विभिन्न पड़ावों को बारीकियों से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। किसी भी विमर्श के विस्तृत विश्लेषण करने के लिए उसके विभिन्न विवरणों को भारतीय व पाश्चात्य दृष्टि से प्रस्तुत करने आवश्यक है।

तीसरे अध्याय में मैंने हिन्दी साहित्य विभिन्न नाटककारों के नाटक का तुलनात्मक अध्ययन कर 'स्त्री विमर्श' के विभिन्न पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया है।

चतुर्थ अध्याय में मीराकांत के संपूर्ण साहित्य को एवं उनके नाटक एवं नाटकोत्तर साहित्य का विस्तृत रूप में वर्णन किया है।

पंचम अध्याय में महिला लेखन के बदलते पश्चिदृश्य को प्रस्तुत किया जिसके अंतर्गत निम्नवर्गीय महिलाएँ, मध्यवर्गीय महिलाएँ, उच्च अभिजात्यवर्गीय महिलाएँ व अन्य सभी वर्ग की महिलाओं को सम्मिलित किया गया है।

कहा जाता है कि गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। यह शत-प्रतिशत सही है। मेरे शोध की प्रेरणा बनकर आये आदरणीय प्रो. गणेश बी. पवार। उन्होंने ही मेरा मार्गदर्शन करते हुए कहा कि मीरा कांत के सभी नाटकों व अन्य साहित्य पर शोध करना चाहिए। फलतः यह शोध उन्हीं के मार्गदर्शन का प्रतिफल है। उनके कुशल निर्देशन में शोध करना कभी कठिन नहीं लगा।

मेरे शोध का शीर्षक निर्धारित करने के लिए वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो. सुनीता ए. मनजनबैल को दिल से धन्यवाद देती है।

अंत में मैं अपने आदरणीय पिता श्री योगेन्द्र शर्मा को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने सदैव एक ढाल बनकर मेरा मार्ग प्रशस्त किया और इसके साथ मेरी माताजी निर्मल शर्मा का प्रतिनिधि मेरे लिए सराहनीय रहा। साथ ही भैया का योगदान रहा।